॥ ओ३म् ॥

महामुनि कपिल प्रणीत.

॥ साङ्ख्यदर्शन ॥

पं० कृपाराम शर्म्मा कृत भाषाटीका सहित

और

पण्डित महेश प्रसाद मिश्र के प्रबन्ध से

"आर्य्यभास्कर यन्त्रालय"

मुरादाबाद में मुद्रित

सम्वत् १९५४ सन् १८९८ ई०

मिलनेकापता—पं० कृपाराम शर्म्मा
वैदिकधर्म्म प्रेस शहर देहली ॥

सांख्य फिलासोफी-भाषा टीका।

॥ प्रथमाध्यायः ॥

(प्र०) मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

(उ०) अथ त्रिविध दुःखात्यंत निवृत्ति अत्यंत पुरुषार्थः १

(अर्थ) तीनप्रकार के दुःखों का अत्यन्ताभाव का होजाना प्राणी मात्र का मुख्य उद्देश्य है।

(प्र०) तीन प्रकार के कौन से दुःख हैं ?

(उ०) अध्यात्मिक, आधिभौतिक, आदैविक।

(प्र०) अध्यात्मिक दुःख किसको कहते हैं ?

(उ०) जो दुःख शरीरान्तर में उत्पन्न जैसे-ईर्षा, द्वेष, लोभ, मोह, क्लेश रोगादि॥

(प्र०) आधिभौतिक दुःखकिसको कहते हैं ?

(उ०) जो अन्य प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न हो—जैसे—सर्प के काटने या सिंह से मारे जाने या मनुष्यों के परस्पर युद्ध से जो दुःख उपस्थित हो उसे आधिभौतिक कहते हैं।

(प्र०) आधिदैविक दुःख किसको कहते हैं?

(उ०) जो दुःख दैवी शक्तियों अर्थात् अग्नि वायु या जल के न्यूनाधिक्य से उपस्थित हों उनको आधिदैविक कहते हैं।

(प्र०) समय के विचार से दुःख कितने प्रकार के होते हैं ?

(उ०) तीन प्रकार के अर्थात्, भूत, वर्तमान, और अनागत।

(प्र०) क्या इन तीनों के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये?

(उ०) केवल अनागत के लिये पुरुषार्थ करना योग्य है क्योंकि भूत तो व्यतीत हो जाने के कारण नाश हो होगया और वर्तमान दूसरे क्षण में भूत होजाता है अतएव यह दोनों स्वयं नाश हो जाते हैं केवल अनागत का नाशकरना आवश्यकीय है।

(प्र०) जो दुःख अभी उत्पन्न नहीं हुआ या जो क्षुधा अभी नहीं लगी उसका नाश अभी किस प्रकार हो सकता है?

(उ०) कारणा भावात् कार्य्यः भावः ॥ (वैशेषिक)—(अर्थ) कारण के नाश होने से कार्य्य का नाश होजाता है अतएव दुःख के कारण को नाश करना चाहिये अर्थात् कारण के नाश से अनागत दुःख का नाश होजाता है जैसा कि महर्षि पातंजलि ने लिखा है—हेयंदुःखमनागतम् (अ०) आगामी दुःख 'हेय' अर्थात् त्यागने योग्य है उसी के दूर करने का प्रयत्न करो।

(प्र०) इस सांख्य शास्त्र में किसवस्तु का वर्णन कियागया है।

(उ०) 'हेय' अर्थात् दुःख 'हान' अर्थात् दुःख निवृत्ति। 'हेय हेतु,' अर्थात् दुःख के उत्पन्न होने का कारण। 'हानोपाय' अर्थात् दुःख के नाश करने का उपाय।

(प्र०) क्या दुःख अन्न और औषधि इत्यादि से दूर नहीं होता ?

(उ०) दुःख की अत्यन्त निवृत्ति किसी प्राकृतिक वस्तु से नहीं होसकती जैसा कि लिखा है ।

नदृष्टाततत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति दर्शनात् ॥ २ ॥

(अर्थ) दृश्य पदार्थो अर्थात् औषधि द्वारा दुःख का अत्यन्ताभाव होजाना संभव नहीं क्योंकि जिस पदार्थ के संयोग से दुःख दूर होता है उसके वियोग से वही दुःख फिर उपस्थित होजाता है जैसे अग्नि के निकट बैठने या कपड़े के संसर्ग से शीत दूर होता है और फिर अग्नि या कपड़े के अलग होने से फिर वही शीत उपस्थित होजाता है अतएव द्रश्य पदार्थ अनागत दुःख की औषधि नहीं ।

(प्र०) क्याद्रश्य पदार्थ दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का कारण नहीं ?

(उ०) नहीं

[प्र०] प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ॥ ३

अर्थ—नित्य प्रति क्षुधा लगती है उसकी निवृत्ति भोजन से होजाती है इसी प्रकार और दुःख भी प्राकृतिक वस्तुओं से दूर होसक्ते हैं अर्थात् जैसे औषधि से रोग की निवृत्ति हो होजाती है अतएव वर्त्तमान काल के दुःख दृष्ट पदार्थों से दूर होजाते हैं—इसी को पुरुषार्थ मानना चाहिये ।

(उ०) सर्वासम्भवात्सम्भवेऽपिसत्वासम्भवाद्धेयःप्रमाणकुशलै ४

अर्थ—प्रथम तो प्रत्येक दुःख दृष्ट पदार्थों से दूरही नहीं होता क्योंकि सब वस्तु प्रत्येक देश और काल में प्राप्त नहीं हो सक्ता—यदि मान भी लें कि प्रत्येक आवश्यकीय वस्तुयें सुलभ भी हों तथापि उन पदार्थों से दुःख का अभाव नहीं होसक्ता केवल दुःख का तिरो भाव कुछ काल के लिये होजायगा अतएव बुद्धिमान को चाहिये कि दृष्ट पदार्थों से दुःख दूर करने का प्रयत्न नकरै प्रत्युत दुःख के मूलोच्छेद करने का प्रयत्न करैं—जैसा कि लिखाहै ।

उत्कर्षादपिमोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥ ५.

अर्थ—मोक्ष सब सुखौं से परे है और प्रत्येक बुद्धिमान सब से परे पदार्थ की ही इच्छा करता है इस हेतु से दृष्ट पदार्थौं को छोड़ कर मोक्ष के लिये प्रयत्न करै यही प्राणियों का मुख्य उद्देश्य है ।

अविशेषश्चोभयोः ॥ ६

अर्थ—यदि मोक्ष को अन्य सुखौं के समान माना जावै तो दोनौ बातैं समान होजावैंगी—परन्तु क्षणिक सुख को कल्प पर्यन्त सुख के समान समझना बड़ी मूर्खता है ।

क्या तुम जो मोक्ष को सब से उत्तम जानते हो और मोक्ष छूटने को कहते हैं—छूटता वही है जो बंधन मे होता क्या यह जीव बंधन मे है—यदि कहो कि बंधन मे है तो वह बंधन उसका स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक ?

(उ) नस्वभावतोवद्धस्य मो-

क्षसाद्धनोपदेशविधिः ॥ ७

अर्थ—दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं क्योंकि जो गुण स्वाभाव से होता है वह गुणी से मुक्त नहीं होता अतएव दुःख के नाशके कथन से ही प्रतीत होता है कि दुःख जीव का स्वाभाविक गुण नहीं क्योंकि वह गुणी से पृथक् हो ही नहीं सक्ता।

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्टानल क्षणमप्रामाण्यम् ॥ ८

अर्थ—स्वाभाविक गुण के अविनाशी होने से जिन मन्त्रों मे दुःख दूर करने का उपदेश किया गया है वह सब प्रमाण नहीं रहैंगे अतएव दुःख जीवका स्वाभाविक गुण नहीं है।

नाशकयोपदेशविधि रूपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥ ९

अर्थ—निष्फल कर्म्म के निमित्त वेद मे कभी उपदेश नहीं होसक्ता क्योंकि असम्भव के लिये उपदेश करना भी न करने के समान है अतएव दुःख जीवका स्वाभाविक गुण नहीं किन्तु नैमितिक है।

(प्र०) शुक्लपटवद्बीजवच्चेत् ॥ १०

अर्थ—स्वाभाविक गुण का भी नाश होजाता है जैसे स्वेत वस्त्रका स्वेत रंग स्वाभाविक गुण है परन्तु वह मैला या सुर्ख होजाने से नाश होजाता है इसी प्रकार वीज में अंकुर लाने का स्वाभाविक गुण है परन्तु वह वीज के जला देने से नाश होजाता है अतएव यह विचार करना ठीक नहीं।

(उ०) शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्यो पदेशः ॥ ११

अर्थ—उपरोक्त उदाहर्ण स्वाभाविक गुणके अत्यन्ता भाव का सर्वथा अयुक्त व अप्रमाणिक है क्योंकि यह तो शक्ति के गुप्त व प्रकट होने का उदाहार्णहै क्योंकि यदि रजक के धोने से पुनः वह वस्त्रस्वेत न हो जाता तव यह ठीकहोता इसीप्रकार जला हुआ वीज अनेक औपधियों के मेल से ठीक हो जाता है अतएव यह कथन ठीक नहीं कि स्वाभाविक गुण का भी नाश हो सकता है।

(प्र०) यदि मान लियाजाय कि दुखजीवका स्वाभाविक गुण नहीं तो किन कारणों से दुःखउत्पन्न होताहै मेरीसम्मति में तो सृष्टि कालमें दुःख उत्पन्न होता है और सृष्टि के नाशसे दुःख नाश होजाता है इस हेतु से दुःख का कारण काल है।

(उ०) नकालयोगतोव्यापिनो नित्यस्यसर्वसम्बन्धात् ॥ १२

(अर्थ) दुःख कालके कारण से नहीं होसकता क्योंकि काल सर्व व्यापक और नित्य है और उसका सबसे सम्बन्ध है अतएव कालके हेतुसे तो बंधन और मुक्ति हो नहीं सकती क्योंकि यदि कालही दुःख का हेतु माना जावे तो सब ही दुःखी होने चाहिये।

(प्र०) तो क्या देशयोग से दुखः उत्पन्न होता ? क्योंकि बहुत से लोग यह कहते हैं कि अटक पारजाने से पाप होता

है और उससे दुःख उत्पन्न होता है ।

(उ०) न देशयोगतोऽप्यस्मात् १३

चूंकि कालके अनुसार देशभी सर्व व्यापक और सबसे सम्बन्ध रखनेवाला तथा नित्य है इसलिये देश योगसे बन्धन नहीं होसकता ।

(प्र०) तो फिर क्या अवस्था अर्थात् दशाओं के हेतु से दुःख उत्पन्न होता है क्योंकि तीन अवस्था अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—या बाल्या वस्था या युवा वस्था या वृद्धावस्था इन छः दशाओं में किसके हेतुसे दुःख और बन्धन होता है ।

(उ०) नावस्थातो देहधर्म्म त्वात् तस्याः ॥ १४

अर्थ—इन दशाओं से भी दुःख उत्पन्न नहीं होसकता क्योंकि बाल, युवा और वृद्धा वस्था शरीर के धर्म हैं यदि अन्य के धर्म से अन्यका बंधन मानाजाय तो सर्बथा अन्यायहै क्योंकि किसी दूसरे बंधन मनुष्य के धर्म्म से कोई मुक्त बंधन में पड़ जायगा और मुक्तकेधर्मसे कोईबद्ध मुक्त होजायगा ।

(प्र०) क्या इन अवस्थाओं से कोई जीव का कोई सम्बन्ध नहीं यह केवल शरीर की हैं ?

(उ०) असंगोऽयंपुरुषः ॥१५

अर्थ—यह जीव सर्वथा असंग है इसका बाल्य वृद्ध औरयुवावस्था से किंचित सम्बन्ध नहीं ।

(प्र०) तो क्या दुःख अर्थात् बन्धन के उत्पन्न होने का हेतु कर्म है ।

(उ०) नकर्मणाऽन्यधर्म्मत्वा दतिप्रसक्तेश्च ॥

वेद विहित या निषिद्ध कर्मोंसे जीव का बन्धन रूपी दुःख उत्पन्न नहीं होता क्योंकि कर्म करना भी शरीर व चित्त का धर्म है द्वितीय कर्म शरीर से होगा और शरीर कर्म के फल से होता है तो अन- वस्था दोष उपस्थित होजायगा तीसरे यदि शरीर का कर्म आत्मा के बन्धन का हेतु माना जावे तो बन्धन में हुये जीव के कर्म से मुक्ति जीवकाबन्धनहोना असम्भव हो सकता है अतएव कर्म द्वारा बन्धन उत्पन्न नहीं होता ।

(प्र०) तो हम दुःख रूपबन्धन भी चित्त को ही मानलेंगे उस दशामें चित्त के कर्म द्वारा चित्त को बन्धन होने से कोई दोष नहीं रहेगा ।

(उ०) विचित्रभोगानुपपत्ति रन्यधर्म्मत्वे ॥ १७

अर्थ—यदि दुःख योगरूप बन्धनके वल चित्त का धर्म माना जाय तो नाना प्रकार के भोग से संसार प्रवर्त है नहीं रहने चाहिये क्योंकि जीवको दुःख होने के विनाही यदि दुःख का अनुभव करता मानाजाय तो सारे मनुष्य दुःखी होजांयगे क्योंकि जिस प्रकार दुःख का सम्बन्ध न होने से जैसे दुःखी प्रतीत होता है ऐसे ही दुःख के न होने पर सब लोग दुःखी हो सकते हैं अतएव कोई दुःखी या कोई

मुखी इस प्रकार का अन्यान्य प्रकार का भोग नहीं होसकेगा ।

(प्र०) क्या प्रकृति के संयोग से दुःख होता है ?

(उ०) प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपिंपारतन्त्र्यम ॥ १८

अर्थ—यदि बंधन का कारण प्रकृति मानो तो प्रकृति स्वयंही स्वतन्त्र नहीं तो परतन्त्र प्रकृति किसी को किस प्रकार बांध सकती हैं क्योंकि जबतक प्रकृतिका संयोग न हो तबतक तो वह किसी को बांधही नहीं सकती और संयोग दूसरे के अधिकार में है ।

(प्र०) क्या ब्रह्मही उपाधि से जीव रूप होकर अपने आप बंध गया है ।

(उ०) ननित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वाभावस्यतद्योगस्तद्योगादृते॥१९

अर्थ—जो ईश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है उसका तो प्रकृति के साथ सदैव सम्बन्धहै इसलिये वह जीव रूप हो कर दुःख नहीं पासकता—क्योंकि उसके गुण एक रस हैं इस कारण ब्रह्म को उपाधि कृत बन्धन नहीं वरनजीव अल्पज्ञ नित्य पदार्थ है उसीका प्रकृति के साथ योग होता और वह मिथ्या ज्ञानके कारण वद्ध होजाताहै जैसा कि आगेकथन होगा

(प्र०) तो क्या अविद्या से ब्रह्मही जीव होगया है और इसदुःख की उत्पत्ति केवल अविद्या से है ।

(उ०) नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥ २०

अर्थ—अविद्या से जो कोई पदार्थही नहीं, वन्धन का होना सम्भव नहीं क्योंकि आकाश के फूल की सुगन्धी किसी को भी नहीं आती यदि माया वादी जो अविद्या उपाधि से जीवको बन्धनमानतेहैं अविद्या को वस्तु अर्थात् द्रव्य मानते हैं तो उनका सिद्धांत उड़ जायगा जैसा कि लिखा है ।

[उ०] वस्तुत्वे सिद्धान्त हानिः ॥ २१

अर्थ—यदि अविद्या को वस्तु मान लिया जावे तो उनके एक अद्वैत ब्रह्मके सिद्धान्त का खंडन होजायगा क्योंकि एक वस्तु तो ब्रह्म है दूसरी अविद्या होगई इस लिये अद्वैत न रहा ।

[प्र०] इसमें क्या दोष है ?

[उ०] विजातीय—द्वैता पत्तिश्च ॥ २२

अर्थ—अद्वैत वादी ब्रह्मको सजातीय अर्थात् बराबर जाति वालेविजाती विरुद्ध जाति वाले स्वगत अपने भाग इत्यादि के भेद से रहित मानते हैं और यहां अविद्या के वस्तु मानने से विजाति अर्थात् दूसरी जाति का पदार्थ उपस्थित होने से अद्वैत सिद्धांत का खंडन होगया ।

[प्र०] हम अविद्या को वस्तु और अवस्तु दोनों से पृथक अनिर्वचनीय पदार्थ मानते हैं जैसे ।

[उ०]विरुद्धोभयरूपा चेत्२३॥

अर्थ—यदि दोनों से पृथक मानो तो यह दोष आजायगा ।

[उ०] नतादृक्पदार्थाप्रतीतेः॥२४

अर्थ—इस प्रकार अविद्या वस्तु अवस्तु से पृथक नहीं रहो सकती क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो सत असत से पृथक हो और यहां यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या तुम्हारी अविद्याके अनिर्वचनीय होने में कोई प्रमाण है या नहीं यदि कहो प्रमाण है तो वह प्रमेय होगई फिर अनिर्चनीय किस प्रकार हो सकती है यदि कहो प्रमाण नहीं तो उसके होने का क्या प्रमाण है।

(उ०) न वयंषटपदार्थ वा दिनोवैशेषिकादिवत् ॥ २५

अर्थ—हम षट पदार्थों को वैशेषिक की सदृश नहीं मानेत और न्याय के समान सोलह भीनहींमानतेहैं इसकारण हमारे मत में सत् असत् से अविद्या का विलक्षण होना ठीक है और वही बन्ध का हेतु है।

[उ०] अनियत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संगूहोऽनाथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ॥ २६

अर्थ—तुम पदार्थों की संख्या का नियम मानो चाहे न मानो परन्तु सद् असद् से पृथक कोई पदार्थ बिना युक्ति मान नहीं सकते इस प्रकार बालक और उन्मत्त का कहना भी ठीक हो सकता है जिस प्रकार बालक और उन्मत्त का कहना युक्ति शून्य होने से प्रमाणिक नहीं इसीप्रकार तुम्हारा कहना भी असंगत है।

(तो क्या जीव अनादि वासनासे बंधन में पड़ा है ?

[उ०]नानादिविषयोपरागनिमित्तको ऽप्यस्य ॥ २७

अर्थ—इस आत्मा को अनादि प्रवाहरूप बासना से बंधन होना भी असम्भव मालूम होता है क्योंकि निम्न लिखित प्रमाण से अशुद्ध प्रतीत होता है।

[उ०] न वाह्याभान्तरयोरुपरंजोपरंजकभावोऽपिदेशव्यवधानात् स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥ २८

अर्थ—जो मनुष्य जीव आत्माका शरार में एक देशी मानतेहैं इस कारणजीव आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध वाह्यविषयों से नहीं रहेगा क्योंकि आत्मा और जड़के बीच अति देश का अन्तर है जैसे पटने का रहने वाला बिना आगरे पहुंचे वहां के रहने वाले को नहीं बांध सकता—इसीप्रकारवाह्य इंद्रियों से उत्पन्न हुई वासना आभ्यन्तरस्थ आत्मा के बन्धन का हेतु किस प्रकार होसकती है और लोक में भी ऐसाही देखा जाता है कि जब रंग और वस्त्र का सम्बन्ध बिना अन्तर के होता है तब तो वस्त्र पर रंग चढ़ जाता है यदि उसके बीच कुछ अन्तर हो रंग कदापि नहीं चढ़सकता अतएव वासना से बन्धन नहीं हो सकता—परन्तु जब लोग आत्मा और वाह्य इन्द्रियों में अन्तर मानतेहैं तो इन्द्रिय कृत वासनासेआत्मा किसीप्रकार बन्धन में नहीं आसकता यदि यह कहाजाय कि वाह्य इन्द्रियोंका आभ्यन्तर इन्द्रिय बुद्धि आदि से सम्बन्ध है और आभ्यन्तर इन्द्रियों का आत्मा से इस परम्परा सम्बन्धसे आत्मा भी विषय वासना से बद्ध होसकता है यह कहना अयुक्त है क्योंकि।

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्नव्यवस्था ॥ २९

जब आत्मा और इन्द्रिय दोनो को विषय वासना में बंधा हुआ मानोगे तो मुक्त और बंधन में रहने वाले का पता भी नहीं लगेगा इसका आशय यह है कि जब आत्मा और इन्द्रिय दोनो ही विषय वासना से समान

सम्बन्ध रखते हैं तो इन्द्रियों का बन्धन न कहकर केवल आत्माही को बन्धन बतलाना अयुक्त होगा इसकारण बासना से भी बन्धन नहीं होता ॥ २६

अदृष्टवशाच्चेत् ॥ ३०

(प्र०) तो क्या फिर अदृष्ट (अर्थात् पूर्व किये धर्म्म अधर्म्म से जो एकभोगशक्ति पैदा होती है) से बन्धन होता है ॥ ३०

[उ०] न द्वयोरेक कालायोगादुपकार्य्योपकारकभावः ॥ ३१

अर्थ—जब तुम्हारा बन्धन और अदृष्ट एक काल में उत्पन्न होते हैं तो उनमें कर्ता और कर्म्म नहीं होसकता जबकि तुम्हारी दृष्टि में संसार प्रत्येक क्षण में बदलता है तो एक स्थिर आत्मा के न होनेसे दूसरे आत्मा के अदृष्ट से दूसरे आत्माका बन्धन रूप दोष होगा ।

पुत्र कर्म्म वदिति चेत्॥ ३२॥

जिस प्रकार उसी काल में तो गर्भाधान किया जाता है और उसी समय उसका संस्कार किया जाता है अतएव एक काल में उत्पन्न होने वाले पदार्थों में पूर्व कथित सम्बन्ध हो सकता है ॥ ३२

(उ०) नास्तिहितत्र स्थिर एकात्मायोगर्भाधानादिना संस्क्रयते ॥ ३३

अर्थ—तुम्हारे मतमें तो एक स्थिर जीव आत्माही नहीं जिसका गर्भाधानादि से संस्कार किया जावे अतएव तुम्हारा पुत्र कर्म वाला दृष्टांत ठीक नहीं यह दृष्टान्त एक स्थिर आत्मा मानने वालों के मत में तो कुछ घट भी सकता है ॥ ३३

(प्र०) बन्धन भी (क्षणिक) एक क्षण भर रहने वाला है इसलिये उसका कारण अर्थात् नियत नहीं या अभावही उसका कारण है अथवा वह विना कारण ही है ।

(उ०) स्थिर कार्य्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥ ३४ ॥

(अर्थ) यदि तुम बन्धन को (क्षणिक) एक क्षण रहने वाला मानो तो और उसमें दीप शिखा अर्थात् दीप ज्योति के समान दोनों का कोई स्थिर कार्य्य उत्पन्न नहीं होगा वह इस अगले सूत्र से स्पष्ट करते हैं कि कार्य्य को क्षणिक मानने में क्या दोष होगा ॥ ३४ ॥

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ॥३५॥

(अर्थ) लोक में कोईभी पदार्थ (क्षणिक) अर्थात् एक क्षण रहने वाला नहीं क्योंकि यह ज्ञान के सर्वथा विरुद्ध हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह कहता हुआ सुनाई देता है कि जिसको मैंने देखा उसको स्पर्श किया दृष्टान्त यह है जैसे कि यदि एक घोड़ा मूल्य लिया जावे तो क्षणिक वादी के मत में परीक्षा कर के मोल लेना असम्भवहै क्योंकि जिस क्षण में घोड़े को देखा था तव और घोड़ा था जिस क्षणमें हाथ लगाया तव और था दुबारा देखा तव और हुआ इस कारण कोई कार्य्य होही नहीं सकता अतएव जिस के लिये दृष्टान्त नहो वह ठीक नहीं इस लिये बन्धनादि क्षणिक नहीं वरन स्थिर हैं और प्रमाण देते हैं ।

श्रुति न्याय विरोधाच्च ॥३६॥

यह कहना कि जगत एक क्षण रहता है श्रुति अर्थात् वेद और न्याय अर्थात् तर्क से सर्वथा विरुद्ध है जैसा कि लिखा है ॥

"सदेवसौम्ये दमग्र आसीत्"

(अर्थ) हे सौम्य ! इस जगत से पहिले भी सत् था अर्थात जगत का कारण था ॥

"तम एवेदमग्र आसीत्"

(अर्थ) इस सृष्टि से पहिले यह जगत तम रूप अर्थात् नामरूपज्ञान जो कार्य्यमें हैं इन से पृथक् सत् रूप था—और न्याय से इस लिये विरुद्ध है कि असत् से सत् किसी प्रकार हो नहीं सकता इस कारण यह बन्धन रूप दुःख न तो क्षणिक है न विना कारण ही है— और प्रमाण लीजिये ॥

दृष्टान्ता सिद्धेश्च ॥ ३७ ॥

(अर्थ) क्षणिक में जो दीप शिखा का दृष्टान्त दिया वह अयुक्त है क्योंकि क्षण ऐसा सूक्ष्म काल है कि जिसकी इयत्ता (अन्दाजा) नहीं होसक्ता और उसकी कुछ इयत्ता (तादाद है और प्रत्यक्ष में दीप शिखा कई क्षण तक एक बराबर रहतीहै यह कथन भी सर्वथा अयुक्त है और क्षणिक वादियों के मत में एक दोष यह भी होगा कि कारण और कार्य्य भाव नहीं होसकेगा और जब कार्य्य कारण का नियम न रहा तो किसी रोग की औषधी जो निदान अर्थात् कारण के ज्ञान को जान कर उसके विरुद्ध शक्ति से की जाती है नहीं हो सकेगी और संसार में जो घटका कारण मृत्तिकाको माना जाता है सर्वथा न कह सकेंगे क्योंकि जिस क्षण में मृत्तिका घट का कारणहै वह क्षण अब नष्ट होगया और यह कहना सर्वथा अयुक्त है कि मृत्तिका घटकाकारणनही क्योंकि विना कारण जाने घट बनाने में कुलालकी प्रवृत्ति नहीं होती और यदि दोनों को अर्थात मृत्तिका और घटकी उत्पत्ति एकही क्षण में माने तो यह दोष होगा ॥

युगपज्जायमानयोर्न कार्य्यकारण भावः ॥ ३८ ॥

(अर्थ) जो पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं उनमें कार्य्य कारण भाव नहीं होसक्ता क्योंकि ऐसा कोई भी दृष्टान्त लोक में नहीं है जिसमें कार्य्य कारण की उत्पत्ति एक साथ ही हो—यदि क्षणिक वादी यह कहें कि मृत्तिका और घट क्रम से हैं पहिले मृतिका कारण फिर घट कार्य्य उत्पन्न होगया तो इसमें भी दोषहै ॥

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ॥ ३९ ॥

(अर्थ) इस पक्ष में यह दोष होगा कि पूर्व क्षण में मृत्तिका उत्पन्न हुई और दूसरे क्षण में नाश हुई तब पीछे उस से कार्य्य रूप घट क्योंकर उत्पन्न होसकता है—इस लिये जब तक उपादान कारण न माना जाय तब तक कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होसकती अतएव कार्य्य कारण भाव क्षणिक वादियों के मत से सिद्ध नहीं होसकता ॥ ३९ ॥

[उ०] तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥ ४० ॥

(अर्थ) कारण की विद्यमानता से और कार्य्य के साथ उसका सम्बन्ध न मानने से दोनों दशाओं में व्यभिचार दोष होने से कारण कार्य्य का सम्बन्ध नहीं रहता जब कार्य्य बनाना था तब तो कारण नहीं था और कारण हुआ तब कार्य्य बनाने का विचार नहीं अतएव क्षणिक वादियों के मत में कार्य्य कारण का सम्बन्ध किसी प्रकार हो नहीं सकता ॥ ४० ॥

(प्र०) जिस प्रकार घट का निमित्त कारण कुलाल पहिले से ही माना जाताहै यदि इसी भांति उपादान कारण भी माना जावे तो क्या शंका है ?

[उ०] पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥ ४१ ॥

(अर्थ) यदि कारण को नियत न मानकर पूर्व भावमात्रही मानाजावे तो यह नियम न रहेगा कि मृत्तिका ही से घट बनता है और वायु से नहीं बनता—क्योंकि क्षणिकबादी किसी विशेष कारण को भाव से तो मानते नहीं किन्तु भावही मानेंगे अतएव उपरोक्त दोष बना रहेगा और निमित्त कारण और उपादान का अन्तर भी मालूम नहीं होगा और लोक में उपादान कारण और निमित्त कारण का भेद निश्चित है इसलिये क्षणिकवाद ठीकनहीं

(प्रश्न) जो कुछ संसार में हैं सब मिथ्या ही हैं और संसार में होने से बन्धन भी मिथ्या है अतएव उसका कारण खोजने की कोई आवश्यकता नहीं वह स्वयम् नाश रूप है ।

(उ०) न विज्ञान मात्रं बाह्य प्रतीते ॥ ४२ ॥

इस जगत को केवल मिथ्या ज्ञान या विज्ञानमात्र नहीं कहसकते क्योंकि विज्ञान आन्तरिक अर्थात् भीतरही होता है और जगत बाहर और भीतर दोनो दशाओं में प्रकट (है ॥ ४२ ॥

(प्रश्न) जब हम बाहर किसी पदार्थ के भाव को मानतेही नहीं केवल भीतर के विचार ही मनो राज्य की सृष्टि की भांति मालूम होते हैं ॥

(उ०)तदभावेतदभावाच्छून्यं तर्हि ॥ ४३ ॥

यदि तुम जगत को बाह्य न मानो केवल भीतरही मानोगे तो इस देखतेहुये संसार में विज्ञान का भी अभाव मानना पड़ेगा और जगत को शून्य कहना पड़ेगा इसका कारण यह है कि प्रतीति विषय का साधन करने वाली होती है इस लिये यदि बाह्य प्रतीति जगतका साधन न करे तो विज्ञान प्रतीति भी विज्ञान को नहीं सिद्ध कर सकती इस हेतु से विज्ञान वाद में शून्य वाद हो जायगा ।

(प्र०) अब शून्य वादी नास्तिक अपनी दलील देता है ।

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तु धर्मत्वाद्विनाशस्य ॥४४॥

(अर्थ) जितने पदार्थ हैं सब शून्य हैं और जो कुछ भाव है वह सब नाशवान है और जो विनाशी है वह स्वप्नकी भांति मिथ्या है इस से सम्पूर्ण वस्तुओं के आदि और अन्त का तो अभाव सिद्ध ही होगया अब रहा केवल मध्य भाग सो यथार्थ नहीं—तब कौन किसको बांध सकता है ? और कौन छोड़ सकता है इस हेतु से बन्ध मिथ्या ही प्रतीत होता है विद्यमान वस्तुओं का नाश इस लिये है कि नाश होना वस्तु मात्र का धर्म है इस शून्य वादी के पूर्वपक्ष का खंडन करते हैं ॥ ४४ ॥

(उ०) अपवाद मात्रम् बुद्धानाम् ॥४५ ॥

अर्थ जो कुछ भाव पदार्थ हैं वह सब नाशवान हैं यह कथन मूर्खों का अपवाद मात्र है क्योंकि नाश मात्र वस्तु का स्वभाव कहकर नाश में कुछ कारण न बताने से जिन पदार्थों का कुछ अवयव नहीं है उनका नाश नहीं कह सक्ते इसका हेतु यह है कि कारण में लय होजाने को ही नाश कहते हैं और जब निरवयव वस्तुओं का कुछ कारण न माना तो उनका लय भी किसी में नहोने से उनका नाश न होसकेगा इसके सिवाय एक और भी दोष रहेगा कि हर एक कार्य्य का अभाव लोक में नहीं कह सकते जैसे घट टूट गया इस कहने से यह ज्ञात होगा कि घट की दूसरी दशा होगई-परन्तु घट रूपी कार्य्य तो बनाही रहा-आकृति को इस हेतु से माना है कि वह एक घट के टूट जाने से दूसरे घटों में तो रहती है।

अब तीनों लक्षणों का खंडन करते हैं।

अर्थात् विज्ञान वादी क्षणिक वादी और शून्य वादी।

उभयपक्ष समान क्षेमत्वादय मपि ॥ ४६ ॥

(अर्थ) जिस प्रकार क्षणिकवादी और विज्ञान वादीका मत प्रतिभिज्ञादि दोषवाद्य प्रतीति से खण्डन होजाता है इसीप्रकार शून्यवादीका मत भी खण्डन होजाता है,क्योंकि उसदशा में पुरुषार्थका बिलकुल अभावहोजाता है यदि यह कहो कि शून्यवाद करने परभी पुरुषार्थ तो स्वीकार करते हैं तो वह भी मानना अयुक्त होगा।

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥ ४७ ॥

(अर्थ) शून्यवादी के मत में पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति नहीं होसकती क्योंकिजब दुःख हैही नहीं केवल शून्यही है तो उसकी निवृति का उपाय क्यों किया जावे और मुक्ति भी शून्यही होगी उसकेलिये साधनभीशून्य ही होंगे तो ऐसे शून्य पदार्थ के लिये पुरुषार्थ भी शून्यही होगा-अतएव शून्यवादी का मत किसी प्रकार भी शांतिदायक नहीं और न उससे मुक्ति होसकती है ॥ ४७ ॥

नगति विशेषात् ॥ ४८ ॥

(अर्थ) गति के ३ अर्थ हैं-ज्ञान, गमन, प्राप्ति, यह तीनों बन्धन का हेतु नहीं होते पहिले जब कहाजावे कि ज्ञानविशेष से बंधन होता है—ज्ञान तीनप्रकार का है प्रातिभासिक,व्यवहारिक,परिमार्थिक, यदि कहाजावे कि प्रातिभासिक सत्ता के ज्ञान से बंधन होता है तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रातिभासिक सत्ता का ज्ञान इन्द्रिय और संस्कार दोष से उत्पन्नहोताहै परन्तुआत्मा में न इन्द्रिय है न संस्कार है इसलिये जिस का कारण है ही नहीं उसका कार्य्य कैसे होसकता है, और रहा व्यवहारिक ज्ञान सो तो वह अवस्था को छोड़ रहताही नहीं वह बन्ध का कारण किस प्रकार होसकताहै और पारमार्थिक ज्ञान तो मुक्ति का हेतु है वह बन्ध का कारण क्योंकर होसकता है अतएव ज्ञान विशेष से बन्ध नहीं होता, दूसरा गमन शरीरादि में होता है वह जीव का स्वाभाविक धर्म्म होने से बन्ध का हेतु नहीं होसकता।

तीसरा प्राप्ति, सो प्राप्त होनेवाले दो पदार्थहैं एक ब्रह्म दूसरी प्रकृति सो यह दोनो व्यापक होने से जीव को सर्वदा प्राप्त सदैव रहने वाली वस्तु से सदैव सम्बन्ध उससेभी

बद्ध नहीं होसकता अतएव गति विशेषि से बद्ध नहीं होता ॥ ४८ ॥

निष्क्रियस्यतदसम्भवात् ॥४९॥

(अर्थ) क्रिया से शून्य जड़ प्रकृति में भी गति असम्भव है और व्यापक ब्रह्म में भी गति असम्भव है, और यदि जीव की गतिपर विचार कियाजावे तो प्रश्न यह उपस्थित होगा कि जीवविभू है अथवा मध्यम परिमाण वाला है अथवा अणु है, यदि विभू मानलें तो गति हो नहीं सकती, यदि मध्यम परिमाणवाला मानलें तो यह दोष होगा ॥ ४९ ॥

(प्रश्न) क्या आत्मा अंगुष्ठमात्र नहीं है यदि अगुष्ठमात्रहै तो उसमें गति इत्यादि सम्भव है यदि विभू है तो नाना होही नहीं सकते ।

(उ०) मूर्तत्वाद्घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धांतः॥५०॥

(अर्थ) आत्मा के मूर्तिमान होने से घटादिकों की भांति सावयव इत्यादि दोष आजांय गे और सावयव होने से संयोग वियोग अर्थात् उत्पत्ति और नाशभी मानना पडेगा जो कि आत्मा नित्य है इस लिये मूर्तिवालानहीं होसकता और जब मूर्तिवाला नहीं तो उसमें इस प्रकार की गति भी नहीं मानी जासकती—अतएव आत्मा को मूर्ति वाला मानना सिद्धान्त का खण्डन करना है ॥ ५० ॥

गति श्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥ ५१ ॥

(अर्थ) शरीर के सब अवयवों में जो गति है अर्थात् दूसरे शरीरों में जो गमनहै वह सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि के कारण है अर्थात् जबतक सूक्ष्म शरीर न हो तब तक एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में नहीं जासकता जैसे आकाश घट की उपाधि से चलता है क्योंकि घट में जो अकाश है जहां घट जायगा सोयही जायगा ॥

(प्र०) सूक्ष्म शरीर किसे कहते हैं ?

(उ०) पंच प्राण, पंच उपप्राण,पंचज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि इन सब के समूह का नाम सूक्ष्म शरीर है ॥

(प्र०) क्या यह जीव से बिलकुल पृथक है ॥

(उ०) हां बिलकुल पृथक है ॥

(प्र०)तो पहिले पहिल जीव किस प्रकार इस शरीर को धारण करता है ॥

पहिले सांकल्पिक सृष्टि में आता है फिर उसको जब सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होजाता है तब दूसरे शरीरों में जाता है यदि संबन्ध न हो तो नहीं जाता ॥

न कर्म्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ॥ ५२ ॥

(अर्थ) कर्म्म से भी बन्धन नहीं होता क्योंकि वह भी शरीर सहित आत्मा सेहोता है और शरीर सुख दुःख भोगने से होता है इसलिये धर्म्म से पहिले शरीर का होना आवश्यक है और शरीर होने से बन्धन भी है उसके उत्पन्न की आवश्यकतानहीं ।

है और शरीर सुख दुःख भोगने से होता है इसलिये कर्म्म से पहिले शरीरका होना आवश्यक है और शरीर होनेसे बन्धन भी है उसके उत्पन्न की आवश्यकता नहीं ॥

अतिप्रसक्तिरन्यधर्म्मत्वे ॥ ५३ ॥

(अर्थ) यदि और के धर्म्म से औरका बन्धन

मानलें तो नियम टूटजांयगे क्योंकि उस अवस्था में बद्ध पुरुषके पापसे मुक्तबन्धन में आजायेंगे जो असंगत है ॥ ५३ ॥

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ५४ ॥

(अर्थ) यदि उपाधि के विना पुरुषका बन्धन मानाजावे तो जिन सूत्रों में जीवको शाक्षीरूप और निर्गुण बतलाया है उनमें दोष आजायगा इसलिये जीव न स्वभाव से बद्ध है न मुक्त है बरन यह दोनों उपाधिक धर्म हैं प्रकृति संसर्गसे बद्ध होजाता है और परमात्मा के संसर्ग से मुक्त होजाता है यथार्थमें जीव सुख दुःख से पृथक और तीनों तापोंसे किनारे शाक्षीरूप है, इस सूत्र में इति शब्द कहने से बन्धन के कारण की परीक्षा समाप्त करदी गई ॥

(प्र०) जब दुःख स्वाभाविक भी नहीं

(उत्तर) जीव की अल्पज्ञता और प्रकृति संसर्ग से बन्ध की प्रतीत होती है चुंकि संसर्ग नित्य है इसलिये नैमित्तिक नहीं कहला सकता और बन्ध संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अविवेक से प्रतीत होता है इस कारण स्वाभाविक नहीं कहलासकता अतएव अविवेक ही इसका कारण है ॥

(प्रश्न) जब तुम प्रकृति के योग से बन्धन मानते हो और प्रकृति भी काल और दशा की नाईं सर्व व्यापक हैं तो उसके योग से बन्धन किस प्रकार होसकता है ।

(उ०) तद्योगोऽप्य विवकान्न समानत्वम् ॥ ५५ ॥

(अर्थ प्रकृति का योग भी अविवेक से होता है इस वास्ते यह काल और दशा के समान नहीं ।

(प्रश्न) अविवेक किसे कहते हैं ?

(उत्तर) यह न जानना कि यह वस्तु हमारे वास्ते लाभदायक है अथवा हानिकारक उसको अविवेक कहते हैं ।

(प्रश्न) इस अविवेक का कारण क्या है ?

(उ०) जीव की अल्पज्ञता ही अविवेक का कारण है ।

(प्र०) क्या वह जीव की अल्पज्ञता जीव का स्वाभाविक गुण है अथवा उसका भी कोई कारण है ?

(उ०) उसका कोई करण नहीं ।

(प्र०) जब अल्पज्ञता स्वाभाविक गुण है और स्वाभाविक का नाश होनहींसकता बस कारण रहा तो कार्य्य बन्धन सदैव रहेगा ।

(उ०) जिस प्रकार वायु स्वाभाव से उष्ण और शीत से अलग है ऐसेही जीव बन्ध मुक्ति से पृथक है यह दोनों गुण नैमित्तिक है इस लिये प्रवाह से अनादि हैं और स्वरूप से आदी होते हैं ।

नियत कारणात् तदुच्छित्ति र्ध्वान्तवत् ॥ ५६ ॥

(अर्थ) जिसप्रकार मन्द अन्धकार से जो सीपमें चांदीका ज्ञान या रज्जू में सर्पका ज्ञान है उसके नाश करने का नियत उपाय है अर्थात् प्रकाश का होना—किंतु प्रकाश के बिना किसीअन्यउपायसे यहअज्ञान नष्ट नहीं होसकता इसी प्रकार अविवेकसे उत्पन्न होने वाला जो बन्धन है उसके नष्ट करने का उपाय विवेक अर्थात् पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान है ।

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥ ५७ ॥

जीव में प्रधान अर्थात् प्रकृति के अविवेक अर्थात् पदार्थ ज्ञान के न होने से और कारणआदि से पदार्थों का अज्ञान होता है आशय यह कि बन्धन का कारण जीव की अल्पज्ञता है क्योंकि जीव अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता से प्रकृति का विवेक नहीं रखता जिससे प्राकृतिक पदार्थों में मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है और मिथ्या ज्ञान से रागद्वेष और रागद्वेष से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और उससे बन्धन अर्थात् तीन प्रकारका दुःख उत्पन्न होता है, और जिस समय प्रकृति का मिथ्या ज्ञान नष्ट होजाता है तब प्रकृति के पदार्थों का अविवेक दूर होकर दुःख रूप बन्धन से छूटजाता है ॥

वाङ्मात्रं नतुतत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ ५८ ॥

दुःखादि का चित्त में रहनेवाला होने से उसका पुरुष में कथन मात्र ही है जैसे लाल डांक के लगाने से अंगूठी का हीरा लाल मालूमहोता है ऐसे जीव मन के दुःखी होने से दुःखी मालूम होता है और मन के सुखीहोने से सुखी मालूम होता हैं वास्तव में सुख दुःखसे पृथक है।

(प्र०) यदि इस भांति दुःख कथन मात्र ही है तो युक्ति से भी दूर होजायगा उसके लिये विवेक की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

युक्तितोऽपिनवाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ॥ ५९ ॥

(उ०) इस केवल कथन मात्र दुःख का भी युक्ति से नाश नहीं होसकता विना अपरोक्ष ज्ञान के जैसे किसी मनुष्य को पूर्वदिशा में उत्तर का भ्रम होजावे तो जबतक उसे पूर्व और उत्तर दिशा का भलीभांति ज्ञान न होजावे तबतक यह भ्रम जाही नहीं सकता इस कारण विवेक की आवश्यकता है और सूत्र में भी दिखलायागया है कि जब तक दिशा का प्रत्यक्ष न होजावे तबतक भ्रम निवृत्ती नहीं होसकती इस लिये जब तक प्रकृति और पुरुष के धर्म्म का ठीक निश्चय करके प्रकृति से निवृत्ति और पुरुष की प्राप्ति न हो तबतक दुःख दूर भी नहोगा ॥

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिववन्हेः ॥ ६० ॥

(अ) प्रकृति पुरुष अर्थात् जीवात्मा परमात्मा और प्रकृति का जो प्रत्यक्ष नहीं है अनुमान से ज्ञान होता है ॥

(प्र०) क्या यह प्रकृति प्रत्यक्ष नहीं ?

(उ०) नहीं, प्रत्युत जो प्रत्यक्ष है वह विकृति है अर्थात् प्रकृति का परिणाम है ॥

(प्र०) सूत्र में तो पुरुष शब्द है तुम इससे जीवात्मा और परमात्मा किस प्रकार लेते हो ?

(उ०) शरीर में रहने से जीवात्मा और संसार में व्यापक होने से परमात्मा पुरुष शब्द से लियेगये और न्याय में आत्मा

और सांख्य में पुरुष शब्द एकही अर्थ के बतलाने वाले हैं ॥

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान, महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियंतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंच विंशतिगुणाः ॥ ६१ ॥

सतोगुण प्रकाश करने वाला, रजोगुण न प्रकाश और न आवरण करने वाला, तमोगुण आवरण करनेवाला– जब यह तीनों गुण समान रहते हैं उस दशा का नाम प्रकृति है क्योंकि वर्तमान दशा में सतोगुण तमोगुण का परस्पर विरोध है इस समय जिस शरीर में सतो गुण रहता है वहां तमोगुण का बास नहीं और इसी प्रकार जहां तमोगुण का निवास है वहां सतोगुणनहीं। परन्तु कारण अर्थात् परिमाणु की दशामें एकदूसरे के विरुद्ध नहीं करसक्ते उस समय पास ही पास रहसक्ते हैं अब उस प्रकृति से महत्तत्व अर्थात् मन उत्पन्न होता है और मन से अहंकार और अहंकार से पंच सूक्ष्म तन्मात्रा या रूप रस गंध स्पर्श और शब्द उत्पन्न होते हैं उनसेपांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होतेहैं और पंचतनमात्रों से पांचभूत अर्थात् पृथवी, अपेतजं, वायु और आकाश होतेहैं और जबइनसे पुरुष मिलजाता है तो २५ गुण कहलाते हैं।

(प्र०) अनेक पुरुषों ने महत्तत्व का अर्थ बुद्धि लिया है तुम 'मन' किस प्रकार लेते हो ?

(उ०) बुद्धि जीव आत्मा का गुणहै जीव के सत्य होने से वह नित्य है वह प्रकृति का कार्य्य नहीं और मन शूक्ष्म अन्य का विकार है अतएव मनहीं लेना चाहिये।

(प्र०) मन की इन्द्रियों में गणना की जाती है अतएव भिन्न करने से बुद्धि का ही प्रयोजन प्रतीत होता है।

(उ०) यदि १० इन्द्रियों में ११ वां मन भी लिया जाय तो तुम्हारी संख्याही अशुद्ध होजायगी इस हेतु से महत्तत्व का अर्थ मनही है।

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रा ॥ ६२ ॥

(अ०) इन पांच प्रकाशवान तत्वों से उन शूक्ष्म तनमात्रों का अनुमान होता है, जिस प्रकार कार्य्य को देख कर कारण का अनुमान होता है जैसे लिखा है।

कार्य्य गुणपूर्वकाकारण गुणो दृष्टः।

(अ०) कार्य्य के गुणों के अनुसार

कारण और कारण के अनुसार कार्य्य के गुणों का अनुमान होता ह ।

इसी प्रकार यहां कार्य्य तत्वओं को देख कर कारण तन मात्रा का ज्ञान होजाता है ।

वाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चा हंङ्कारस्य ॥६३॥

(अर्थ)वाहरकी और अभ्यन्तरीय इन्द्रियों से पंच तनमात्रा रूप कार्य्य का ज्ञान होकर उसके कारण अहंकार का भी ज्ञान होताहै क्योंकि स्पर्शादि षिपयों का ज्ञान समाधि और सुषुप्ति अवस्था में जबकि अहंकाररूप वृत्तिका अभाव होताहै नहीं होता इससे अनुमान होता है कि यह इस वृत्ति से उत्पन्न होते हैं अर्थात अहंकार के कार्य्य हैं और अहंकार इनका कारण है क्योंकि यह नियम है कि जो जिसके विना पैदा न होसके वह उसका कारण है होताहै और भूत विना अहंकार के सुशुप्ति अवस्था में दृष्टि गत नहीं होते अतएव यही उनका कारण अनुमान से प्रतीत होता है ।

ते नान्तःकरणस्य ॥ ६४ ॥

(अर्थ) और इस अहंकाररूपी कार्य्य से उसके कारण अन्तःकरण का अनुमान होता है क्योंकि प्रथम मनमें वस्तु की स्तित्त्व का निश्चय करके उसमें अहंकार किया जाता है अर्थात् उसे अपना मानते हैं जिससमय तक वस्तु की स्तित्त्व का निश्चय न हो तब तक उसमें अभिमान नहीं होता है अर्थात् मै हूं और यह मेरा है यह ज्ञान जबतक अपने और चीज की स्तित्वका ज्ञाननहो किस तरह होसकता है

ततःप्रकृते ॥ ६५ ॥

(अर्थ) और उस मनसे प्रकृति जो मनका कारण है उसका अनुमान होता है क्योंकि मन मध्यम परिमाण वाला होने से कार्य्य है और प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य होता है अब मन का कारण प्रकृति के आतिरिक्त और कुछ हो नहीं सक्ता क्योंकि पुरुष तो परिणाम रहित है और मन का शरिर की तरह मध्यम परिणाम वाला होना श्रुतिस्मृति और युक्ति से सिद्ध है क्योंकि मन सुख दुःख और मोह धर्म्मवाला है इसवास्ते उसका कारण भी मोह धर्म्मवाला होना चाहिये दुःख परतन्त्रता का नाम है आरै पुरुष की परतन्त्रता हो नहीं सक्ती परतन्त्रता केवल जड़ प्रकृति का धर्म्म है और उस का कार्य्य मन है ।

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥ ६६ ॥

प्रकृति के अवयवों की संहति सर्वदा

दूसरे के वास्ते होती है अपने लिये नहीं इससे पुरुष का अनुमान होता है क्योंकि मन आदिक जो प्रकृति के कार्य हैं उनसे पुरुष को लाभ होताहै मन आदिक अपने लिये कुछ भी नहीं करसकते और जितने शरीर से लेकर अन्न वस्त्र पात्रादि प्रकृति के विकार हैं उनसे दूसरों काही उपकार होताहै और पुरुष की क्रिया का भोग यदार्थ नहीं है क्योंकि उपनिषद में लिखा है 'नवाअरेसर्वस्यकामायसर्वंप्रियंभवतिनस्तु कामायसर्वंप्रियंभवति '—अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओं के उपयोगी होने से सब वस्तु प्यारी नहींहोती किन्तु आत्मा के उपयोगी होनेसे सब वस्तु प्यारी प्रतीत होती हैं।

(प्रश्न) क्या प्रकृति का कोई कारण नहीं है ब्रह्मको कारण सुनाजाता है।

(उत्तर) ब्रह्म जगतका निमित्त कारण है प्रकृति का उपादान कारण नहीं।

(प्रश्न) प्रकृति को क्यों अकारण मानते हो।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम्६७॥

अर्थ—२३ तत्वों का मूल उपादान कारण प्रकृति है और मूल अर्थात् जड़ की जड़ नहीं होती इस वास्ते मूल विना मूल केही होता है।

(प्रश्न) प्रकृति को मूल क्यों मानते

(उत्तर) यदि मूल का मूल मानो गे तो उसके मूल की आवश्यकता होगी इस प्रकार अनवस्था आजायगी।

(प्रश्न) जैसे घटका कारण मृत्तिका है और मृत्तिकाका कारण परमाणु है।

पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञा मात्रम् ॥ ६८ ॥

कारणों की परमपरा के विचार से परमाणुही घट का कारण मृतिका तो नाम मात्र है।

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥ ६९ ॥

घट और मृतिका के साथ प्रकृति का समान सम्बन्ध है अर्थात् परमपरा से प्रकृति हीघट और मृतिका का कारण है और निरवयव होने से नित्य है उसका कोई कारण नहीं।

अधिकारित्रैविध्यान्ननियमः ७०॥

यद्यपि प्रकृति सबका उपादान कारण है परन्तु प्रत्येक कार्य्य में जो तीन प्रकार के कारण मानेजाते हैं अर्थात् १ उपादान २ निमित्त और ३ असाधारण, इनकी भी व्यवस्था न रहैगी क्योंकि जब मिट्टी, कुम्हार दण्डादिक का कारण प्रकृतिही ठहरी तो इन तीन कारणों की अनावश्यकता होने से बहुत गोलमाल होजायगा इसमें हेतु यह है कि फिर कोई भी किसी का निमित्त वा असाधारण कारण न रहैगा अतएव जहां२कारणत्व कहाजाय वहां२ प्रकृति को छोड़कर कहना चाहिये क्योंकि प्रकृति तो सबका कारण है ही उसके कहने की कोई भी आवश्यकता नहीं है जैसे कुम्हार के पिता को घट का कारण कहना अनावश्यक क्योंकि वह तो अन्यथा सिद्ध है ही यदि वही न होता तो कुलाल कहां से आता ? परन्तु घट के बनने में कुलाल के पिता की कोई भी आवश्यकता नहीं है ऐसाही नवीन नैयायिक भी मानते हैं कि कारणत्व प्रकृति को छोड़कर कहना चाहिये ॥ ७० ॥

यद्यपि प्रकृति सबका उपादान कारण है परन्तु प्रत्येक कार्य्य में जो तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं अर्थात् * १ उपादान २ निमित्त और ३ साधारण, इनकी भी व्यवस्था न रहेगी क्योंकि जब कुम्हार मिट्टी दण्डादि का कारण प्रकृतिही ठहरी तो इन तीन कारणों की अनावश्यकता होने से बहुत गोलमालें होजायगा इसमें हेतु यह है कि फिर कोई भी किसी का निमित्त व असाधारण कारण न रहेगा अतएव जहां २ कारणत्व कहा जाय वहां २ प्रकृति को छोड़कर कहना चाहिये क्योंकि प्रकृति तो सबका कारण है ही उसके कहने की कोई भी आवश्यकता नहीं है जैसे कुम्हार के पिता को घटका कारण कहना अनावश्यक है क्योंकि वह तो अन्यथा सिद्ध है यदि वही न होता तो कुलाल कहां से आता ? परन्तु घट के बनने में कुलाल के पिता की कोईभी आवश्यकता नहीं है ऐसाही नवीन नैयायिक भी मानते हैं कि कारणत्व प्रकृति को छोड़ कर कहना चाहिये ॥ ७० ॥

महदाख्यमाद्यं कार्य्यं तन्मनः ॥७१॥

प्रकृति का पहला कार्य महत् है और वह मन कहलाता है—मनसे अहंकारादि उत्पन्न होते हैं मन की उत्पत्ति ६१ सूत्र में कह चुके हैं ॥ ७१ ॥

चरमोऽहंकारः ॥ ७२ ॥

और प्रकृति का दूसरा कार्य अहङ्कार है इन तीनो सूत्रों का अभिप्राय यह है कि यदि प्रकृति को कारणत्व कहा जावे तो केवल इनही दो कार्यों का कहना अन्य कार्यों का कारण महदादिकों कहना चाहिये इसी बात को अगले सूत्रों से स्पष्ट करते हैं ॥ ७२ ॥

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥ ७३ ॥

महत और अहङ्कार को छोड़ कर बाकी सब प्रकृति के कार्य्य नहीं किन्तु उनके कारण महदादि हैं।

प्रश्न—जब तुमने पहिले इसको प्रकृति का कार्य्य कहा अब उसे अलग करते हो कि औरों को महादादिकों का कार्य्य कहना चाहिये ॥ अब यहां यह सन्देह होता है कि पहिले प्रकृति को सबका कारण कह चुके अब महदादिकों को क्यों कारण कहते हैं तो इसका उत्तर यह है कि ॥ ७३ ॥

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥ ७४ ॥

जिस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से घटादि के कारण अणु मानेथे उसी भांति परम्परा सम्बन्ध से महदादिकों का कारण भी प्रकृति ही है अतएव कुछ दोष न रहेगा ॥ ७४ ॥

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥ ७५ ॥

पहिले होने में एक यह भी युक्ति है कि कार्य्य नाश होकर कारण में मिल जाता है और अन्त में सब कार्य्य पदार्थ प्रकृति में लय होजाते हैं।

यदि कोई शंका करे कि जब प्रकृति

---

* १ उपादान कारण जैसे घटका मृत्तिका। २ निमित्त कारण जैसे घटका कुलाल ३ साधारण जैसे घटके दण्ड आदि।

और पुरुष दोनों कार्य्य जगत से पहिले थे तो अकेली प्रकृति को क्यों कारण माना जावे इसका उत्तर यह है कि पुरुष परिणामी नहीं और उपादान कारण का परिणाम ही कार्य्य कहलाता है और पुरुष के अपरिणामी होने में १५—१६ के सूत्र प्रमाण है यदि प्रकृति सम्बन्ध से प्रकृति द्वारा पुरुष में परिणाम माने और दोनों को कारण माने तो वृथा गौरव होगा।

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥७६॥

एक देशि और अनित्य पदार्थ सर्व जगत का उपादान कारण नहीं होसकते क्यों कि अनित्य पदार्थ को कार्य्य होने से स्वयम कारण की आवश्यकता है ॥७६॥

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥ ७७ ॥

अनित्य और एक देशी पदार्थों की उत्पत्ति श्रुति में मानी है और जिसकी उत्पत्ति है उस का विनाश अवश्य होगा (प्रश्न) अविद्या सम्बन्ध से जगदुत्पत्ति है इस में क्या दोष है इस का उत्तर महात्मा कपिलजी यह देते हैं ॥ ७७ ॥

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥ ७८ ॥

जो अविद्या द्रव्य नहीं है केवल गुण मात्र है या कोई वस्तु नहीं है उससे यह जगत जो द्रव्य और वस्तु है किस प्रकार उत्पन्न होसकता है क्योंकि गुण द्रव्य का एक अवयव होता है एक अवयव से अवयविकी उत्पत्ति नहीं होसकती और न अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है जैसे मनुष्य के सींग नहीं तो उस सींग से कमान कैसे बन सकता है ॥७८॥

प्रश्न—यह संसार भी अवस्तु है इस वास्ते यह अविद्या से बना है

अबाधाददुष्टकारण जन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥ ७९ ॥

उत्तर-यदि कहो जगत भी अवस्तु है तो यह कल्पना ठीकनहींक्योंकि न तो स्वप्न के पदार्थों के तुल्य जगतका किसी अवस्था विशेष में बाध होता है जैसे स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत अवस्था में बाध होजाता है और नहीं जगत् किसी इन्द्रिय के दोष से प्रतीत होताहै जैसे पीलिया रोगकी अवस्था में सब वस्तुओं को पीला प्रतीत करताहै परन्तु यह पीलापन सत्य नहीं जगत इस प्रकारके किसी दोष युक्त कारण से उत्पन्न नहीं हुआ इस कारण जगतको अवस्तु नहीं कह सकते

प्रश्न—जब श्रुतियों में जगत का मिथ्या होना कहा गया है तब जगत वस्तु नहीं हो सकता।

उत्तर—क्या तुम श्रुतिको जगतकेअन्दर मानते हो या बाहर—यदि अन्तर मानो तो जगत के मिथ्या होने से श्रुतिका स्वयं बाध होजायगा और वह मिथ्या श्रुति प्रमाणही न रहेगी यदि जगत से बाहर मानो तो अद्वैत वादी के सिद्धान्त की हानि होगी।

प्रश्न—नेति नेति—इस प्रकारकी श्रुतियों का क्या अर्थ करोगे।

उत्तर—यह श्रुतियें ब्रह्मका जगत से विवेक याने भिन्नता के बताने वाली हैं और जगत को स्वरूप से अवस्तु बतलाने वाली नहीं।

भावेतद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्कुतस्तरांतत्सिद्धिः ।८०॥

कारणके होने से उसके संयोगसे कार्य बन सकताहैऔरकारणके अभावमेंकिसके योगसे द्रव्य रूप कार्य बनेगा जैसे मट्टी के होने से तो उसका घट बनजायगा—जबमृतिका हीन हो तो किसका घट बनेगा ।

प्रश्न—तुम प्रधान अर्थात् प्रकृतिको क्यों कारण मानते हो कर्म को मानना चाहिये ।

उत्तर—नकर्मणउपादानत्वा योगात् ॥ ८१ ॥

अर्थ—कर्म से जगतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि कर्म द्रव्य तो है ही नहीं द्रव्य के बिना गुणादिमें उपादान कारण होने की योग्यता नहीं कारण यह है कि द्रव्यका उपादान कारण द्रव्यही होता है यदि कहो हम ऐसी कल्पना करते हैं तो कल्पना दृष्टके अनुसार प्रमाणिक और विरुद्ध होने से अप्रमाणिक है और वैशेषिक में कहे हुये गुण और कर्म कहीं उपादान कारण होतेनहींदिखो यहां कर्म शब्द से अविद्या और गुणोंको भी लेनाचाहिये वहभी उपादानके योग्यनहीं।

यहांतक तो यह बतलायागया कि प्रकृति में परिणाम है परन्तु पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में परिणाम नहीं दूसरे प्रकृति के जितनेकार्य हैं वह दूसरेके वास्ते हैं क्योंकि उसमें स्वयम भोग शक्ति नहीं अबपांच सूत्रों में मुक्ति का कारण कर्म नहीं विवेक है यह कहेंगे ।

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्य त्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम्।८२॥

यह तो पहिलेकहचुकेहैं कि दृष्टिपदार्थों वा कर्म से दुखात्यन्तनिवृति नहीं होती अब कहते हैं कि ज्ञान के बिना वेदोक्त कर्म से भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि वैदिक कर्म्मोंसे जो स्वर्गादि सुख मिलते हैं उनका भी नाश होजाता है इस वास्ते यहपुरुषार्थ नहीं पहिले न कर्मण अन्य धर्मत्वात्—इस सूत्रमें कर्म से बन्धन नहीं होता इस काखण्डन कियागया था अब कर्म से मुक्ति होती है इसका भी खण्डन करदिया ।

प्रश्न—श्रुति में बतलाया गया है कि इस प्रकार के कर्म से ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर ब्रह्मलोक की आयु तक पुनरावृत्तिनहींहोती ।

उत्तर—तत्रप्राप्त विवेकस्याना वृत्तिश्रुतिः ॥ ८३ ॥

अर्थ—इस श्रुति में भी प्राप्त विवेकही के वास्ते वैदिक कर्म्मों से अनावृत्तिमानी गई है यदिऐसानमानोतोदूसरीश्रुतियोंसेजोब्रह्मलोक से पुनरावृति का कथन करती है, विरोध होकर दोनों काप्रमाणनहीं रहेगा इस लिये प्राप्त विवेकहीसेमुक्ति माननी चाहिये ।

दुःखादुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥ ८४ ॥

जो कर्म शरीर से उत्पन्न होता है और शरीर के न होने पर नहीं होता इस वास्ते कर्म स्वयम् दुख रूप या अविद्या स्वरूप है जिसप्रकार दुख से दुख का नाश नहीं होता उसी प्रकार कर्म से दुख का नाश नहीं हो सकता—जैसे जलमें नहाने से शीत बढ़ताहै नाश नहीं होता ऐसेही विवेक रहित कर्मसे मुक्ति नहीं होती ।

काम्ये ऽकाम्येऽपि साध्यत्वा विशेषात् ॥ ८५ ॥

चाहे कर्म्म निष्काम हो चाहे सकाम हो परन्तु ज्ञान के बिना मुक्ति का साधन नहीं हो सकता क्योंकि दोनों प्रकार के कर्म्मों में साध्यत्व—अर्थात् शरीर से उत्पत्ति वाला होना समान है—और श्रुति में भी लिखा है न कर्मण न प्रजया इत्यादि अर्थात् न तो कर्म से मुक्ति होती न प्रजासे—न धन से—ज्ञान के बिना किसी साधन से मुक्ति नहीं होती ।

प्रश्न—ज्ञान दुःख का विरोधी नहीं इस लिये ज्ञानसे दुःख का नाश कैसे होसकता है।

उत्तर दुःख जन्म मरण से होताहै जन्म मरण कर्म से होतेहैं कर्म प्रवृत्ति से होता है प्रवृत्ति रागद्वेष से होती है—रागद्वेष मिथ्या ज्ञान से होतेहैं—ज्ञान मिथ्या ज्ञानका विरोधी हैजबमिथ्या ज्ञानका नाशज्ञानसेहोजायगातब उसकी सन्तान दुःखादि उत्पन्नही नहीं होंगे

प्रश्न—जबज्ञान को साधन मानो गे तो ज्ञान साध्य होने से भी मुक्ति दुःख रूप हो जायगी क्योंकि ज्ञान भी तो देहस्थ आत्मा ही को होगा और ज्ञान साध्य होने से मुक्ति रासी ही अनित्य होगी जैसा कर्म का फल है ।

उत्तर—निजमुक्तस्यबन्धध्वं समात्रं परंनसमानत्वम् ॥ ८६ ॥

अर्थ —कर्मका फल तो भावरूप सुख है इसलिये वह अनित्य है परन्तु ज्ञान का फल तो अविद्या का विनाशरूप है जब कार्य्यभाव रूपनहीं,तो उसका नाशनहींहोगा–दूसरे कर्म देहात्म विशिष्ट से होताहै और उसका फल भी देहात्मा मिलकर भोगते हैं परन्तु देह विनाशी है इसलिये कर्मका फलभी विनाशी ज्ञानात्माका धर्म आत्मा में नित्य होसकताहै ।

प्रश्न—क्या आत्मा निज मुक्त है—

उत्तर—अविद्यादि दोषों से जो दुःख उत्पन्न होता है उन के दूर होने से जीवात्मा मुक्ति सुखको लेता है यहां आचार्य्य ऋषिका यह आशय है कि स्वभाव से तो जीवात्मा बद्ध नहीं केवल अविवेकसे बद्ध होता है और अविवेक के नाश से मुक्त होता है तो मुक्तिध्वंस अर्थात् नाशरूप है भावरूप नहीं।

द्वयोरेकतरस्यवाप्यसन्निकृष्टा र्थपरिच्छित्तिः प्रमातत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधंप्रमाणम् ॥ ८७ ॥

ज्ञाता और ज्ञेयके पास पास होने से जो ज्ञान होता है उसे प्रमा कहते हैं इस प्रमा के साधन तीनप्रकार के प्रमाण हैं—एकप्रत्यक्ष–दूसरा अनुमान तीसरा शब्द जो पदार्थ भौतिक और नजदीक हैं उनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है और जो पदार्थ भौतिक और दूर हैं उनका शब्द और अनुमान से होता है यहां दूरका आशय परोक्ष है जिन पदार्थों का तीनकाल में प्रत्यक्ष न हो उनका शब्द प्रमाण से बोध होता है यहां शब्द का आशययोगी और ईश्वर आज्ञा है जहां भौतिक पदार्थों का परोक्ष होने में शब्दप्रमाण लिया गया है वहां सत्यवादि आप्त पुरुष का वाक्य समझना चाहिये ।

प्रश्न—एक शब्द प्रमाण के दो अर्थ क्यों लिये जायें ।

उत्तर—शब्द कहते आप्त के वाक्य को–और आप्त कहते हैं जिसने धर्म से धर्मिका

निश्चय किया हो—सो अभौतिक पदार्थों का यथार्थ ज्ञान तो बिना प्रमात्मा और योगी के दूसरे को हो नहीं सकता और भौतिक पदार्थों के ज्ञान के साधन इन्द्रियों के होने से सत्यपुरुष का वाक्य भी प्रमाण मानना चाहिये।

प्रश्न—क्या यह तीनही प्रमाण हैं उपमानादि नहीं।

उत्तर—तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः॥ ८८॥

अर्थ—इन तीन प्रमाणों के सिद्ध होने से सब पदार्थों की सिद्धि होजाती है इसलिये और प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि महात्मा मनु ने भी लिखा है।

प्रत्यक्षञ्चानुमानंचशास्त्रंचविविधागमम्। त्रयंसुविदितंकार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।

अर्थ—प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र के अनुकूल जानकर कार्य्य करना चाहिये क्यों कि धर्म की शुद्धि की इच्छावालों की इच्छा इनसे पूरी होसकती है औ उपमानादि प्रमाण इन्ही के अन्दर आजाते हैं।

यत्सम्बद्धंसत्तदाकारोल्लेखि विज्ञानंतत् प्रत्यक्षम्॥ ८९॥

जिस सामने उपस्थित पदार्थ के साथ ज्ञानेन्द्रिय का सम्बन्ध हो और मनको भी उस इन्द्रिय के द्वारा उसका यथार्थ बोध होजाय तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और इस ज्ञान का कारण ज्ञानेन्द्रिय और मनकी वृत्ति हैं इसलिये मन और इन्द्रियें प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं और इनका विषय केवल प्राकृत पदार्थ ही हैं प्रत्यक्ष से अप्राकृत पदार्थों का ज्ञान नहीं होसकता।

प्रश्न—योगियों को तीनों कालके पदार्थों का साक्षात ज्ञानहोसकता है और योगी समाधि अवस्थामें आत्मा और अन्दर के पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है इसवास्ते तुम्हारा प्रत्यक्षका लक्षण ठीक नहीं॥८९॥

उ०—योगिनामबाह्य प्रत्यक्षत्वान्न दोषः॥ ९०॥

अर्थ—यह लक्षण बाह्य प्रत्यक्ष का है और योगियों को अबाह्य प्रत्यक्ष भी होता है इसलिये योगियों का प्रत्यक्ष बाह्य रूप न होने से दोष नहीं॥ ९०॥

लीनवस्तु लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः॥ ९१॥

योगीलोग ऐसी वस्तु का जो दूरहो अथवा दूसरे के चित्त में हो उसके साथ भी सम्बन्ध रखते हैं इस वास्ते योगियों के ऐसे प्रत्यक्ष में दोष नहीं आता।

प्रश्न—योगियोंका ऐसाप्रत्यक्ष क्यों मानाजावे क्योंकि यह साध्यअर्थात् प्रमाण की आवश्यकता रखताहै इसलिये इन्द्रिय ग्राह्यपदार्थकाही प्रत्यक्षमाननाचाहिये और अतीन्द्रियपदार्थकाप्रत्यक्ष न कहनाचाहिये।

उत्तर—मन के इन्द्रिय होने से मानसिक प्रत्यक्ष भी मानना चाहिये इसलिये मानसिक प्रत्यक्ष जो योगियों को होताहै सिद्ध है साध्य नहीं।

प्रश्न—प्रमाण वह होताहै जो सबके लिये एक सम हो जो प्रत्यक्ष योगियों को

हो अन्य पुरुषोंको न हो उसे प्रत्यक्ष नहीं कह सकते ।

उत्तर—इन्द्रियों के विकारी होने से इन्द्रिय जन्य ज्ञान किसी को भीनहीं होता जैसे अन्धे को रूपका ज्ञान बहिरेको शब्द ज्ञान इत्यादि ।

प्रश्न—क्या सबके मनमें दोष है जो मानसिक प्रत्यक्ष नहीं होता ।

उत्तर—जिसके मन की वृत्ति विक्षिप्त अर्थात् बहुत चंचलहै उसे मानसिक प्रत्यक्ष नहीं होसकता जैसे गंगा में यह शक्ति है किवह बड़े २ मकानोंको बहालेजाय परन्तु यदि उसी गंगा को छोटी २ नालियों में विभक्त कर दिया जाय तो एक ईंटकोभी नहीं बहा सकती इसीप्रकार मन सूक्ष्मपदार्थों को जानसकता है परन्तु विक्षप्त वृत्ति होने से उसकी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है ।

प्रश्न—इन्द्रियों के प्रत्यक्षमानने और मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने में क्या दोष होगा ।

उत्तर—ईश्वरासिद्धेः ॥ ९२ ॥

अर्थ—मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने से ईश्वर की सिद्धि न होगी क्योंकि रूप न होने से वह चक्षु का विषय नहीं सुगंध नहोने से वह नासिका का विषय नहीं रसन होने से वह रसना का विषय नहीं जब ईश्वर का प्रत्यक्ष न हुआ तो अनुमान भी नहोगा क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है जिसका तीन काल में प्रत्यक्ष न हो उसमें अनुमान हो ही नहीं सकता और शब्द प्रमाण से भी काम नचलेगा क्योंकि वेद के ईश्वर वाक्य होने से वेद को प्रमाण मानतेहै जब ईश्वर स्वयम असिद्ध होगा तो उसका वाक्य वेद कैसे प्रमाण मानाजायगा यहां अन्योन्याश्रय दोष है क्योंकि ईश्वर की सिद्धि बिना वेद के प्रमाण हो नहीं सकती और वेदका बिना ईश्वर वाक्य सिद्ध हुये प्रमाण ही नहीं होसकता ।

प्रश्न अनुमान क्यों नहीं होगा क्योंकि कार्य्य को देखकर कारण का अनुमान से ज्ञान हो सकता है ऐसे ही सृष्टि को प्रत्यक्ष देखकर उसके कारण का अनुमान कर लेंगे ।

उत्तर—अनुमान का होना व्याप्ति के आधीन है और व्याप्ति प्रत्यक्ष के आधीन है जब तक प्रत्यक्ष प्रमाण से नियत कारण कार्य्य का सम्बन्ध ज्ञान नहोजाय तब तक व्याप्ति नहीं होसकती और जब तक व्याप्ति नहो तब तक अनुमान नहीं होसकता जैसे जब बादल होता है तभी वृष्टि होती है बिना बादल के कभी वृष्टि होतीनहीं देखी इस लिये जिसका ३ काल में प्रत्यक्ष नहो उसका अनुमान से ज्ञान नहीं होसकता ।

प्रश्न—हम नियम पूर्वक कार्य्य को बिना चेतन करता के नहीं देखते इससे हम नियमित कार्य्य से चेतनका अनुमान करते हैं यह जगत भी परिणामी होने से कार्य्य और नियम पुर्वक होने से अपने चेतनकारण के अनुमान का साधक होगा ।

उत्तर—मुक्तबद्धयो रन्यतरा भावान्न तत्सिद्धिः ॥ ९३ ॥

अर्थ—संसार में कोई चेतन मुक्त और बद्ध से भिन्न नहीं यदि तुम ईश्वर को बद्ध मानो तो वह सृष्टि करने की शक्ति नहीं रखता यदि मुक्त मानो तो इच्छा के ऽभाव से सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि संसारमें जितनी सृष्टि को नियमित देखते हैं वह करता की इच्छा से होती है ।

उभयथाप्यसत्करत्वम्॥९४॥

इस प्रकार मुक्त बद्ध दोनों प्रकार के चेतन से सृष्टि का होना अनुमान से सिद्ध न होगा इस लिये मानसिक प्रत्यक्ष अवश्य मानना पड़ेगा ईश्वर योगियों को समाधि ऽवस्था में प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि स्थिर मन के विना ईश्वर का बोधक कोई प्रमाण नहीं । ईश्वर को बद्ध और मुक्त दोनो प्रकार का नहीं कह सकते क्योंकि दोनो सापेक्ष हैं अर्थात् जो पहि-ले बंधा हो तबही बंध से छूटने से मुक्त कहला सकता है ईश्वर इन दोनो अवस्थाओं से पृथक है जगत का करना उसका सुभावहैइस लियेइच्छाकी आवश्यकता नहीं।

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ॥ ९५ ॥

उपासनाके सिद्धहोनेसे जो मुक्तात्मा की प्रशंसा की जाती है इससे प्रतीत होता है कि ईश्वरहै जिसकी उपासना से अविवेक निवृति और विवेक की प्राप्ति होकर आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है ।

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ ९६ ॥

प्रकृति क्रिया रहित है उसकोक्रियाशक्ति ईश्वर के समीपता से प्राप्त होती है जैसे मणि को डांक की समीपता से सुरखी प्राप्त होती है परमात्मामेंइच्छाकेनहोनेसेउसेअकर्ता कहा जाता है और विना उसकीसमीपताके प्रकृति करने में असमर्थ है जैसे बिना हाथ के जीव उठा नहीं सकता इसवास्ते कहते हैं उठाना जीव का धर्म नहीं परन्तु हाथ में जीव के बिना क्रियाशक्ति नहीं इसवास्ते जीवआत्मा को कर्ता माना जाता है ॥ ९६ ॥

विशेषकार्य्येष्वपिजीवानाम् ॥९७॥

जो कार्य सामान्य रूपसे जगत में होतेहैं वहतो परमात्मा की सत्ता से होते हैं और जो कार्य विशेष रूपसे प्रति शरीर में भिन्न भिन्न होते हैं यह जीव की सत्ता से होते हैं संसार की आत्मा को परमात्मा और शरीर के आत्मा को जीवात्मा कहते हैं ॥ ९७ ॥

प्रश्न—यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से व और प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होगई तो वेदका क्योंप्रमाण मानाजाय क्योंकि भौतिक पदार्थों का तो प्रत्यक्षसे ज्ञान होही जायगा और अभौ-तिकका योगियोंकेअवाह्यप्रत्यक्षसे होजायगा ।

उ०—सिद्धरूप बोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ॥ ९८ ॥

अर्थ—अन्य प्रमाणोंसे ईश्वर के होनेकी तो सिद्ध होजायगी परन्तु उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं होगा जैसे पुत्रको देखकर

उसके पिता के होने का ज्ञान तो अनुमानसे हो सकता है परन्तु उसके रूप और आयु आदि के ज्ञानके वास्ते शब्दकी आवश्यकता है इस वास्ते वेदका अवश्य प्रमाण मानना चाहिये ॥ ९८ ॥

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वा-
ल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ ९९ ॥

अन्तःकरण भी चैतन्य के संयोग से उज्ज्वलित (प्रकाशित) है अतएव संकल्प विकल्पादि कार्य्यों का अधिष्ठातृत्व अन्तःकरण को है जैसे अग्नि से तपाये हुए लोहे में यद्यपि दाह शक्ति अग्नि संयोग के कारण है तथापि अन्य पदार्थों के दाह करने को वह लोह शक्ति भी हेतु हो सकती है ॥९९ ॥

प्रतिबन्धदृशःप्रतिबद्धज्ञानम-
नुमानम् ॥ १०० ॥

जो इन्द्रियग्राह्य पदार्थ नहीं दीखता उस के ज्ञान साधन को अनुमान कहते हैं, जैसे अग्नि प्रत्यक्ष नहीं दीखती किन्तु धूमको देख कर उसका ज्ञान हो जाना इसी का नाम अनुमानहै । यह अनुमान व्याप्ति और साहचर्य्य नियम के ज्ञान बिना नहीं होता, जैसे अबतक कोई पुरुष पाकशाला आदि में धूम और अग्नि की व्याप्ति न समझ लेगा कि जहां जहां धूम होता है वहां २ अग्नि अवश्य होती है तबतक धूम को देख कर अग्नि का अनुमान कदापि नहीं कर सकता । यह अनुमान कितने प्रकार का है इसका निर्णय आगे करेंगे किन्तु प्रथम शब्द प्रमाण का लक्षण करते हैं ॥ १०० ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥१०१॥

यह सूत्र सब शास्त्रों में ऐसा ही है जैसे तीनों वेदों में गायत्री मन्त्र एक सम है इसी भांति इस सूत्रको भी जानना चाहिये ॥ जो पुरुष धर्म निष्ठ बाहर धर्म से धर्मी के ज्ञान को यथार्थ रीति पर जानते हैं तथा शुद्ध आचरणवान् हैं उनका नाम आप्त है उनके उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं अब अगले सूत्र से प्रमाण मानने की आवश्यकता को प्रकट करते हैं ॥ १०१ ॥

उभयसिद्धिः प्रमाणात्
तदुपदेशः ॥ १०२ ॥

जब तक मनुष्य को वस्तु का सामान्य ज्ञान हो परन्तु यथार्थ ज्ञान न हो तब तक वह संशय कहाता संशय की निवृत्ति विना प्रमाण के हो नहीं सकती और संशय की निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं होसकती प्रमाणसे आत्म, अनात्म, सत्, असत्, दोनों प्रकार की सिद्धि होती है इसी कारण प्रमाण का उपदेश किया है ॥ १०२ ॥

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः १०३

तीन प्रकार के अनुमान होते हैं पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्य तो दृष्ट, पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं जैसे धूमको देख कर अग्नि का अनुमान किया जाता है क्योंकि पहले पाकशाला में धूम और अग्नि दोनों देखे थे वैसे ही अन्यत्र होंगे इस प्रकार का अनुमान पूर्ववत् कहाता है । जो विषय कभी प्रत्यक्ष नहीं किया उसका कारण द्वारा अनुमान करना शेषवत् अनुमान कहाता है, जैसे स्त्री और पुरुष दोनो को निरोग और हृष्ट पुष्ट देख कर इनके पुत्रोत्पत्ति होगी यह अनुमान करना वा मेघ को देख कर जल वर्षेगा यह अनुमान करना शेषवत् का उदाहरण है । जिस जातीय विषय को प्रत्यक्ष कर लिया है उसके द्वारा समस्त जाति मात्र के कार्य्य का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहाता है जैसे दो एक मनुष्य को देख कर यह बात निश्चय करली कि मनुष्य के सींग नहीं होते तो अन्य मनुष्य मात्र के सींग न होंगे यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है । इसी भांति समान्यतोदृष्ट अनुमान में यह

बात भी आसकती है कि जैसे विना कारण के कार्य की अनुत्पत्ति सामान्य तो दृष्ट है इससे यह निश्चय करलेना चाहिये जहां २ कार्य होगा वहां २ कारण भी अवश्य होगा॥

चिदवसानो भोगः ॥ १०४ ॥

चैतन्यताका जो अवसान अर्थात् अभाव है उसे भोग कहते हैं-यहां परम हर्षि भोगता और भोग को पृथक् २ करते हैं क्योंकि जड पदार्थ भोग होते और चैतन्य भोक्ता होता है-तथा भोग सदा परिणामी होता है और भोक्ता एकरस और चैतन्य होता है-(प्रश्न) कथा जडमन और इन्द्रियें भोक्तानहीं (उत्तर) नहीं यह तो भोगके साधनहैं-प्रश्न-कर्म तो मन और इन्द्रियां करतीहैं तो अकर्ता जीवात्मा उसका फल क्यों भोगता है।

उत्तर-अकर्तुरपिफलोपभोगो ऽन्नाद्यवत् ॥ १०५ ॥

जिसप्रकार किसानों के उत्पन्न किये अन्नादि का भोग राजा करता है वा सेना के हार जाने से राजा को दुःख होता है इसी प्रकार इंद्रियों के लिये कर्मों का फल आत्मा भोगता है।

प्रश्न पहिले मान चुके हैं अन्य के कर्मसे दूसरे का बंधन नहीं होता अब कहते हो दूसरे का किया दूसरा भोगता है।

उत्तर स्वतन्त्र कर्ता होता है स्वतन्त्र के किये का फल स्वतंत्र को नहीं मिलता यह इंद्रियें और मन स्वतंत्र नहीं किंतु आत्मा के करने के साधन है जैसे खड्ग के काटने का कर्ता मनुष्य कहलाता है ऐसेही इंद्रियों के कर्मों का फल जीव को होता है।

प्रश्न चैतन्य जीवात्मा दुःखादि विकार कैसे होसक्ता है।

उत्तर-अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुफलावगमः ॥ १०६ ॥

कर्ता को फलऽविवेक से होता है क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञमें वस्तु का यथार्थ ज्ञानविना नैमित्तक ज्ञान के नहीं रहता इसलिये वह अविवेक शरीरादि के विकारों को अपने में मानता है जिससे उसे दुःख सुख प्रतीत होते हैं जैसे संसार में लोग प्राकृत धन को अपना मानकर उसके नाश से दुःख मानते हैं ऐसेही अविवेक से शरीर विष्ट विकारों से जीव अपने को दुखी सुखी अनुभव कर्ता है।

नोभयं चतत्वाख्याने ॥ १०७ ॥

जब पुरुष प्रमाणों से यथार्थ ज्ञानको प्राप्त होजाता है तो सुख दुःख दोनों ही नहीं रहते क्योंकि जब हमें यह निश्चय होजाता है कि हमशरीर नहीं और न यह शरीर हमारा है किंतु प्रकृति का विकार तो इसके दुःख सुख का हमें लेश भी नहीं प्रतीत होता।

प्रश्न प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रकृति का ज्ञान नहीं होता इसलिये प्रकृति असिद्ध है क्योंकि वह किसी इंद्रिय का विषय नहीं।

उत्तर-विषयोऽविषयोऽप्यति दूरादेर्हानोपादानाभ्या मिन्द्रियस्य ॥ १०८ ॥

इंद्रियों के विषय अति दूरादि कारणों से अविशय होजाते हैं इसवास्ते किसी इंद्रिय का विषय न होने से प्रकृति की असिद्धि न होसक्ती है जैसे अभी एक मनुष्य था परन्तु थोडे काल में दूरचलागया अब वह किसी इंद्रिय का विषय नहीं रहा।

प्रश्न कितने कारण हैं जिनसे वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

उत्तर-अतिदूरहोने से १-अति समीप होने-इन्द्रिय के बिगड जाने से-मनसे स्थिर न होने या मनके दूसरे काम में लगे होने से-अति सूक्ष्म होनेसे बीच में परदा होनेसे इत्यादि और भी कई कारणों से प्रत्यक्ष का विषय ऽविषय होता है इसलिये किसी वस्तु का प्रत्यक्ष न होने से उसकी असिद्धि नहीं

होसकती ।

प्रश्न—प्रकृति का प्रत्यक्ष न होने में क्या कारण है ।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धेः॥१०९॥

प्रकृति और पुरुष का सूक्ष्म होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता-सूक्ष्म होने से अत्यन्त अनु होना अभिप्राय नहीं क्योंकि प्रकृति और पुरुष सर्वत्र व्यापक हैं इन का प्रत्यक्ष योगियों को ही होता है ।

प्रश्न-प्रकृति के प्रत्यक्ष न होने से यह क्यों माना जावे कि अति सूक्ष्म होने से प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु प्रकृति का अभाव ही मानना चाहिये-नहीं शशशृंग की अप्रतीति भी अति सूक्ष्म होने से माननीय पडेगी ।

कार्य्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ।११०

संसार में प्रकृति के कार्यों को देखने से प्रकृति का होना सिद्ध होताहै क्योंकि कार्य्य को देखने का संसार का अनुमान होता है और इन कार्य्यों को बिगड़कर सूक्ष्म होने से कारण की सूक्ष्मता का अनुमान होता है ।

वादिविप्रतिपत्तेस्तदासिद्धिरिति चेत् ॥ १११ ॥

यदि संसार में वादि लोग प्रकृति की असिद्धिः में यह हेतुदें कि कोई ब्रह्म को जगत का कारण मानते हैं कोई परमाणुओं को कोई जगत को प्रतुत्पन्न ही मानते हैं तो इस जगत रूप कार्य्य से प्रकृति के अनुमान करने में क्या हेतु प्रथम तो जगत का कार्य्य होना साध्य है दूसरे कारण ब्रह्म है या प्रकृति यह संशात्मिक है इस लिये प्रकृति असिद्ध है ।

तथाप्येकतरदृष्ट्याएकतरासिद्धेर्नोपलापः ॥ ११२ ॥

जब एक कार्य्य देखकर कारण का अनुमान होता है और कारण को देखकर कार्य्य का अनुमान होता है तो प्रकृति को कारण सिद्ध मनना अनुचित् नहीं क्योंकि सब कार्य्य प्रकृति में लय होते हैं द्वितीय पुरुष जो अपरिणामी है उसको परिणामी प्रकृति के अविवेकसे बन्ध और विवेकसे मुक्ति होतीहै ।

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥ ११३ ॥

सब कार्य्य तीन प्रकार के होते हैं-अतीत अर्थात् गुजराहुआ-दूसरे वर्तमान-तीसरे आनेवाला-यदि कार्य का सत न मानें तो यह तीन प्रकार व्यहार जैसे घट टूट गया अथवा घट वर्तमान अथवा घट होगा नहीं बनसके दूसरे दुःख सुख मोहादि की उत्पत्ति में विरोध होगा-क्योंकि ब्रह्म तो आनन्दस्वरूप होने से दुखादि से शून्य है और प्रमानु और प्रकृति में नाम मात्र भेद है इसलिये प्रकृति जगत का कारण सिद्ध है अगले सूत्र में इसे और भी पुष्ट करते हैं ।

नासदुत्पादोनृशृंगवत् ॥ ११४ ॥

असत किसी वस्तु का कारण नहीं होसकता जैसे मनुष्य के सींग नहीं इसलिये संसार में उसका कोई कार्य्य भी प्रतीत नहीं होता न उससे कोई कुछ बनसकता है ।

उपादाननियमात् ॥ ११५ ॥

संसार में सब वस्तुओं का उपादान नियत है जैसे मृतिका से घट तो बनसकता है परन्तु पट नहीं बनसकता या लोहे से तलवार बनसकती है रुई से नहीं बनसकती जल से वर्फ बनती है घी से नहीं बनती इसी प्रकार सबपदार्थों के उपादान कारण नियत हैं नियम कार्य्य कारण भाव के सत होने से कार्य्य को भी सत मानना पडेगा ।

सर्वत्र सर्वदा सर्वा सम्भवात् ॥ ११६ ॥

यह कथन सर्वदा असम्भव है क्योंकि

संसार में ऐसे वाक्यों का साधक कोई भी दृष्टान्तादिक नहीं दीखता कि (असतः सज्जायते) अर्थात् असत से सतहोता है। अतः मानना पड़ेगा कि (सतः सज्जायते) अर्थात् सत से सत ही उत्पन्न होता है,

शक्तस्य शक्य करणात् ॥ ११७

कार्य में कारण का शक्तिमत्व होनाहीं उपा दान कारण होता है, क्योंकि जिस कारण द्रव्य में जो कार्य शक्तिवर्त मानहीं नहीं है उस से अभिलषितकार्य कदापि नहीं होसक्ता, जैसे कि कृष्ण रंग से श्वेत रंग कदापिनहीं होसक्ता अब इससे यथार्थसिद्ध होगया कि जैसे कृष्ण रंग से श्वेत रंग उत्पन्न नहीं होसक्ता इसी प्रकार असत से सत् भी उत्पन्न नहीं होसक्ता ॥

कारण भावाच्च ॥ ११८ ॥

उत्पत्ति से पहिलेही कार्य का कारण से भेद नहीं है क्योंकि कार्य कारण के भीतर सदैव रहता है जैसे कि तेल तिलों के भीतर रहता है ॥

नभावे भावयोग श्चेत् ॥ ११९ ॥

अब इसमे प्रश्न पैदा होता है कि कार्य तो नित्य है तो भावरूप (सत्) कार्य में भावरूप उत्पत्तियोग नहीं होसक्ता, असत् से सत् की उत्पत्तिके व्यवहार होने से। अब इस विषय में सांख्य के आचार्य अपने मतको प्रकाश करते हैं ॥

नाभि व्यक्ति निवन्धनौ व्यवहारा व्यवहारौ ॥ १२० ॥

अब यहां पर सन्देह होता है कि यद्यपि उत्पत्ति से पहिले सत् कार्य की किसी प्रकार उत्पत्ति हो परन्तु अब कार्य सत्ता अनादि है तो उसका नाश क्यों होसके इस का उत्तर यह है कि कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार और अव्यवहार अभिव्यक्ति निमित्त कहै अर्थात् अभिव्यक्तिके भाव से कार्य की उत्पत्ति होती है अभिव्यक्ति के अभाव से उत्पत्ति का अभाव है जो पूर्व यह शंका की थी कि यदि कारण में कार्य रहता है तो अमुक कार्य उत्पन्न हुआ ऐसा कहना भी नहीं होसक्ता इसके ही उत्तर में यह सूत्र है कि अभिव्यज्य मान कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार अभिव्यक्ति निमित्त कहै पूर्व जो कार्य असत् नहीं था उस की अब उत्पत्ति हुई यह कथन ठीक नहीं है ॥

नाशः कारण लयः ॥ १२१ ॥

लींग श्लेषणे धातु से लय शब्द बनता है अति सूक्ष्मता के साथ कार्य का कारण में मिलजाना इसी का नाम नाश है कार्य की व्यतीत अवस्था अर्थात् जो अवस्था कार्यकी उत्पत्ति से पूर्व थी उसी को धारण करलेना और जो नाश भविष्यतमें होने वाला है उसी का नाम प्राग भाव नामक नाश है कोई२यह कहते हैं कि जो वस्तु नाश होजाती है उस की पुनरुत्पत्ति नहीं होती परन्तु यह कहना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि इस कथन से प्रत्यभिज्ञा में दोष होगा अर्थात् जिस पदार्थ को दो वर्ष पहिले देखाथा उस कोही इस समय देखने से यह ज्ञान होता है कि जो पदार्थ पहिले देखा था उसी को इस समय देखताहूं इस ज्ञान में यह दोष होगा कि जो ज्ञान पूर्व हुआ था वह इतने दिन तक नष्टरहा और फिर भी समयानुसार उत्पन्न होग-

या यदि नष्ट हुये कार्य की दूसरीबार अनुत्पत्ति ही ठीक होती तो इसमेंभी अनुत्पत्ति का लक्षण पाया जाता अतएव यही कहना ठीक है कि नाश को प्राप्त कार्य फिरभी उत्पन्न होसक्ता है अब यह सन्देह होता है कि यदि पहिले कहा हुआही पक्ष ठीक है तो अपने कारण में कार्य का नाश होता क्योंनहीं दीखता, जैसे तन्तु कपास से पैदा होते हैं परन्तु नाश के समय वह मिट्टी में मिल जाते हैं " इसका उत्तर यह है कि कार्य का कारण में लयहोजाना विवेकी पुरुषों को दीखताहै और अविवेकियों को नहीं दीखता " जैसे तन्तु मिट्टीके रूप होजातेहैं और मिट्टी कपास के वृक्षरूप होजाती है और वह वृक्ष फूल फल कपास आदि रूपसें परिणाम को प्राप्त होता है और जब कार्य का नाम और उसी के समान कुछ बदला हुआ रूप संसार में मौजूद है तब नाश ऐसा कहनाभी योग्य नहीं यही सिद्धान्त महा भाष्य कार महर्षि पातञ्जली जी का भी है कि आकृति नित्यहै अब यहां वह सन्देह होता है कि अभिव्यक्ति कार्य की उत्पत्ति के पूर्व भी थी या नहीं थी यदि थी तो कारण के यत्न से पूर्व अभिव्यक्ति को स्वकार्य जनकता दोष होगा और उत्पत्ति के लिये जो कारण द्वारा यत्न किया जाता है वह व्यर्थ होगा, यदि कार्य की उत्पत्ति से पहिले अभिव्यक्ति नहीं थी तो सत कार्य नाश में हानि होगी क्योंकिजब यहकह चुके हैं कि जो कार्य पूर्व था उसी की इस समय उत्पत्ति होती है, किन्तु असत् की उत्पत्ति नहीं होती तो अभि व्यक्ति का पूर्व में अभाव कहने में दोष होगा यदि यह कहा कि अभिव्यक्ति तो पूर्व भी थी लेकिन एक अभिव्यक्ति से दूसरी अभिव्यक्ति कारण द्वारा होती आती है इसी लिये कारण व्यापार है, ऐसा कहने पर अनवस्था दोष होगा क्योंकि एक से दूसरी दूसरी से तीसरीइसी तरह कहते जाओ लेकिन कहीं भी विश्राम नहीं होसक्ता इस कारणयह अनवस्था दोष होगया, इन पूर्व कहे हुये दोषो के उत्तर यह है। प्रथम तो कारण व्यापार से सब कार्यों की उत्पत्ति होती है इस प्रकार पूर्वोक्त शंका ही नहीं होसक्ती दूसरे यदि वह भी मान लिया जाय कि अभिव्यक्ति पहिले नहीं थी तौ भी कारण व्यापार द्वारा उस की सत्ता प्रकाश करने के वास्ते सदैव जरूरती है तब कोई दोष नहीं होसक्ता तीसरे यह भी है कि जब कार्य की अनागत अवस्था में (जबतक कार्य उत्पन्न नहीं हुआ) सत्कार्य वाद की कोई हानि नहीं होसक्ती, तब दोष भी नहीं होसक्ता, क्योंकि जब तक घट पैदा ही नहीं हुआ उससे पहिले भी सत् कार्य वादी मट्टी में घट को मानते हैं इसी प्रकार अभिव्यक्ति को भी समझना चाहिये, यदि कोई ऐसा सन्देह करे कि कार्य का प्रागभाव (पहिले न होना) ही नहीं मानते तो घट पहिले नहीं था किन्तु अब पैदा हुआ है, ऐसा कहना भी नहीं बनसक्ता इसका उत्तर यह है कि कार्य की अवस्थाओंकोही भाव अभाव कहते हैं नहीं कार्य का और जो अनवस्था दोष दिया उसका उत्तर यह हैं ॥

उत्तर—पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत् ॥ १२२ ॥

बीज और अंकुरके समान अर्थात् जब

विचार किया जाता है कि पहले बीज था या वृक्ष इसविषय में परम्परा मानी गई है इसी तरह अभिव्यक्ति मानी गई है, सिर्फ भेद इतनाहीं है कि उसमें क्रमिक परम्परा दोष उत्पन्न होता है, अर्थात् पहिले कौनथा और इसमें एक कालिक एकही समय में एक का दूसरे से उत्पन्न होना यह दोष हो-गा लेकिन यह दोष इसकारण माना जाताहै कि पातञ्जल भाष्य में भी व्यासजीने कार्यों को स्वरूप से नित्य और अवस्थाओं से वि-नाशी माना है वहां अनवस्था दोष को प्रामा णिक मानाहै, यह बीजाङ्कुरका दृष्टान्त सि र्फ लौकिक है वास्तव में यहां जन्म और क र्म का दृष्टान्त दिया जाता तो श्रेष्ठ था जैसे जन्म से कर्म होताहै याकर्म से जन्म क्योंकि वीजांकुर के झगडे में कोई २ आदि सर्ग में वृक्षके विनाहीं बीजकी उत्पत्ति मानते हैं, वा स्तव में अनवस्था कोई वस्तु नहीं है इसको कहते हैं।

उत्पत्ति वद्वादोषः ॥ १२३ ॥

जैसे कि घटकी उत्पत्ति के स्वरूपको ही वैशेषिकादि असत् कार्य वादी कर्मके सबब मानते हैं अर्थात् यह उत्पत्ति किससे उत्पन्न हुई ऐसा सन्देह नहीं करते सिर्फ एकही उत्पत्ति को मानते हैं इसी तरह अभिव्यक्त की उत्पत्ति किससे हुई यह विवाद (झगडा) नहीं करना चाहिये सिर्फ अभिव्यक्ति कोही मानना चाहिये, सत्कार्य वादी और असत् कार्य वादी इन दोनों में केवल इतनाहीं भेद है कि असत् कार्य वादी कार्य उत्पत्ति की पूर्व दशा को प्रागभाव और कार्य के कारण में लय होजाने को ध्वंस कहते हैं और इन दोनों अवस्थाओं में कार्य का अभाव मानते हैं, और इसीप्रकार सत्कार्यवादी कहीं हुई दोनोंअवस्थाओंको अनागत और अतीतकहते हैं तथा उन अवस्थाओं में कार्य का भाव मानते हैं; कार्य से कारण का अनुमान कर लेना चाहिये।

प्रश्न—किस किसको कार्य कहते हैं।

(उ०)हेतुमद नित्य मव्यापि सक्रिय मनेकमाश्रितं लिङ्गम् १२४

हेतुमान् अर्थात् कारण वाला, अनित्य अर्थात् हमेशः एकसा जो न रहे, अव्यापि अर्थात् एक देश में रहने वाला, सक्रिय क्रि-या की अपेक्षा वाला, अनेक जिसके अलग अलग भेद मालूम होंय, आश्रित कारण के आधीन उसको लिङ्ग अर्थात् कार्य के पहि-चानने का चिन्ह कहते हैं।

(प्र०) जिस में हेतु मत्वादिक होते हैं वांही प्रधान के लिङ्ग कहे जाते हैं।

(उत्तर) तुम्हारा यह कहना सर्वथा असंगत है क्योंकि प्रथम तो इस सूत्र में वा पूर्व (पहिले) सूत्र में प्रधान का नाम ही नहीं है, दूसरे सांख्यकार ने प्रधान शब्द को रूढी नहीं माना इसी कारण इसको पुरुषवा-चक भी नहीं कह सकते किन्तुप्रकृति वाच-क है तीसरे यदि उनके तात्पर्यानुसार (मत-लब के माफिक) यह लिंग पुरुष के ही मान लिये जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सांख्य कार के मत में कार्य मात्र की उत्पत्ति प्रकृति सेहै, एवं प्रकृति और पुरुष का भेद भी माना है एवं परस्पर अनपेक्षा भी कपिला चार्य का सिद्धान्त है तो प्रकृति ही से पुरुष का अनु-मान नहीं होसक्ता हेतु मत्वादि विशेषण देने

से कार्य कारण का भेद मालूम होता है इसी कारण उस भेद की प्रतीति में प्रमाण देते हैं

आश्रस्यादभेद तो वा गुण सामान्यादेस्त त्सिद्धिः प्रधान व्यय देशाद्वा ॥ १२५ ॥

(अर्थ) आश्रस्य, से (प्रत्यक्ष) से वा कारण के सामान्य गुण कार्य में पाये जाते हैं विशेष गुणों में भेद रहता है इससे और प्रधान व्यपदेश से अर्थात् यह कारण है यह कार्यहै, इस लौकिक व्यवहार से कार्य कारण के भेद की सिद्धि होती है ॥ १२५ ॥

त्रिगुण चेतन त्वादि द्वयोः १२६

अब कार्य कारण का भेद कहकर कार्य कारण का साधर्म अर्थात् बराबरीपन कहते हैं कि सत्य, रज, तम, यह तीनों गुण और अचेतन त्वादि धर्म दोनों के समान ही हैं आदि शब्द से परिणामित्वादि का ग्रहण होता है ॥

(मूल) प्रीत्य प्रीति विषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यवैधर्म्यम् १२७

(अर्थ) अब कार्य कारण का परस्पर (आपसमें) वैधर्म्म कहते है सत्त्व, रज, तम इन गुणों का सुख दुःख मोह इनमें अन्योऽन्य वैधर्म्म (एकही कारण से अनेक २ प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होना) दिखाई पडता है इस सूत्र में आदि शब्द से जिनका ग्रहण होता है उनका वर्णन पंच शिखा चार्य ने इस प्रकार करा है कि सत्व गुण से प्रीति, तितिक्षा, सन्तोष, आदि सुखात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते है। इसही रीति से रजोगुण से अप्रीति शोक आदि दुःखात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते हैं, एवं तमसे विषाद, निद्रा (नींद) आदि मोहात्मक अनन्त अनेक धर्म वाले कार्य पैदा होते हैं घट रूप कार्य में सिर्फ मट्टी से रूपमात्र काही वैधर्म्म है ॥

(मूल) लघ्वादि धर्मैःसाधर्म्यं वैधर्म्यञ्चगुणानाम् ॥ २८ ॥

(अर्थ) लघुत्वादि धर्मों से सत्वादि गुणों का साधर्म्य और वैधर्म्य है, जैसे लघुत्व के साथ सर्व सत्व व्यक्तियों का (सतोगुण के पदार्थों का साधर्म्य है रज और तम का वैधर्म्य है, एवं चंचलत्वादि के साथ रजो व्यक्तिया का (रजोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है और सत्व तम का वैधर्म्य है, इसही प्रकार गुरुत्व आदि के साथ तमो व्यक्तियों का (तमोगुण के पदार्थों का) साधर्म्य है और सत्व रजसे वैधर्म्य है,

(प्रश्न) यद्यपि महदादि स्वरूप से सिद्ध हैं तौ भी प्रत्यक्ष से उनकी उत्पत्ति नहीं दीखती इसी कारण महदादिकोंके कार्य होने में कोई भी प्रमाण नहीं।

(उत्तर) उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् १२९।

प्रकृति और पुरुष इन दोनों से महदादिक और ही हैं, इस सबब उन्हे कार्य मानना चाहिये जैसे घट मट्टी से अलग है इसी सबब कार्य है, क्योंकि मट्टी कहने से नतो घट का बोध होता है और घट कहने से मिट्टी का भी ज्ञान नहीं होता है इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष कहने से महदादिकों का ज्ञान नहीं होता है इस कारण महदादिकों को प्र-

कृति और पुरुष से भिन्न कार्य मानना चाहिये क्योंकि प्रकृति और पुरुष कारण है किन्तु कार्य नहीं है ॥

(मूल) परिणामात् १३० ।

(अर्थ) प्रकृति और पुरुष परिमित भाव से रहते हैं, कभी घटते बढते नहीं इसी सबब उनको कार्य नहीं कह सकते क्योंकि ।

(मूल) समन्वयात् १३१ ।

(अर्थ) बुद्धि को आदि लेके जोकि महदादिकोंका अवान्तर भेद हैं सो अन्नादिकों के मिलने से बढते रहते हैं, और भूखे रहने से क्षीण होते हैं इस पूर्वोक्त समन्यय से भी महदादिकों को कार्यत्व मालूम होता है क्योंकि जो नित्य पदार्थ होता है वह अवयव (टुकडा) रहित होता है अतः उसका घटना बढना नहीं होसकता ॥ इसका खुलासा यह हुआ कि घटना बढना आदि कार्य में होसकता है कारण में नहीं होसकता बुद्धि आदि के ही भेद हैं वह अन्न के मिलने से बढते हैं और न मिलने से घटते हैं इसीसे महदादिकों का कार्यत्व सिद्ध होता है ।

शक्तितश्चेति १३२ ।

(अर्थ) महदादिक पुरुष के कारण हैं इसी में महदादिकों को कार्यत्व है क्योंकि इनके बिना पुरुष कुछ भी नहीं करसकता, जैसे कि नेत्रों के बिना कुछ नहीं करसकता अर्थात् देख नहीं सकता, और पुरुष के बिना नेत्र में देखनेकी शक्ति नहीं होसकती क्योंकि नेत्र तो जड हैं इस कारण मनुष्य दर्शन रूप क्रिया को नेत्र रूपी करण के बिना नहीं कर सकता इसही सबब से नेत्र आदिकों को कार्यत्व माना है । इस सूत्र में इति शब्द से यह जानना चाहिये कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि में इतने ही प्रमाण होते हैं ।

तद्धाने प्रकृति पुरुषोवा ।१३३।

(अर्थ) यदि महदादिकों को कार्य नहीं माने तो महत्तत्व को प्रकृति वा पुरुष इन दोनों से एक जरूर माना जायगा ही क्योंकि जो महदादि परिणामी भी हो तो प्रकृति और महदादि अपरिणामी हों तो पुरुष मानना पड़ेगा ।

(प्रश्न) प्रकृति और पुरुषसे भिन्न अर्थात् दूसरा और कोई पदार्थ मान लिया जाय क्या हानि है ।

(उत्तर) तयो रन्य त्वेतुच्छत्वम् १३४ ।

(अर्थ) हां हानि है ? तुच्छत्व दोष की प्राप्ति होति है, क्योंकि लोक में (संसार) प्रकृति और पुरुष के सिवाय अन्य (और) को अवस्तु माना है अर्थात् प्रकृति और पुरुष यह दोही वस्तु हैं और सब अवस्तु (नाचीज) हैं अतएव इसको प्रकृति का कार्य मानना चाहिये यदि दूसरा मानें तो इसके कारण भी दूसरे ही मानने पडेंगे, इस प्रकार महदादिकों को कार्यत्व सिद्ध हुआ, अब उन के द्वारा (जरिये से) प्रकृति का अनुमान सिद्ध करते हैं ।

कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥ १३५ ॥

अर्थ—कार्य से कारणका अनुमान होता है क्योंकि जहां जहां कार्य होता है वहीं २ कारण भी होता है, और महदादिक भी अपने कार्यों के उपादान कारण हैं जैसे कि तिलरूप कार्य स्वागत (अपने में रहनेवाले) तेलका उपादान कारण है इस कथन से

महदादिकों के कार्यत्व में किसीप्रकार की हानि नहीं है।

अव्यक्तं त्रिगुणा ल्लिंगात्१३६

अर्थ—महत्तत्त्वादिकों की अपेक्षा भी मूल कारण प्रकृति अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है क्योंकि महत्तत्त्व के कार्य सुखादिकों का प्रत्यक्ष होता है और सूक्ष्मत्ता के कारण प्रकृति का कोई गुण प्रत्यक्ष नहीं होता है।

प्रश्न—प्रकृति तो परम सूक्ष्म है अतः उसका न होनाही सिद्ध होता है।

उत्तर—तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥ १३७ ॥

अर्थ—प्रकृति का अभाव (न होना) नहीं होसकता क्योंकि प्रकृति के कार्यों से ही प्रकृति की सिद्धि (होना) मालूम पड़ती है उसके कार्य महदादिक उसको सिद्धकर रहे हैं, यहां तक प्रकृति का अनुमान समाप्तहुआ अब अध्याय की समाप्तितक पुरुष का अनुमान कहेंगे।

सामान्येन विवादा भावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥ १३८ ॥

अर्थ जिस वस्तु में सामान्य ही से विवाद नहीं है उसकी सिद्धि में साधनों की कोई अपेक्षा नहीं जैसे प्रकृति में सामान्यही से विवाद है, उसकी सिद्धिके वास्ते साधनों कि अपेक्षा (ख्वाइस) जरूरी है जिस तरह पुरुष में नहीं है क्योंकि बगैर चेतन के संसार में अंधेरा प्रतीत (मालूम) होगा यहां तक कि बौद्धभी सामान्यतः कर्मभोक्ता अहंपदार्थ को पुरुष मानते हैं तो उसमें किसीप्रकार का विवाद नहीं होसकता, उदाहरण, धर्मवत् धर्मकी तरह, जैसे कि धर्म को सभी बौद्ध नास्तिक आदि मानते हैं, वैसेही एक चेतन को सभी मानते हैं।

प्रश्न—पुरुष किस को कहते हैं।

उत्तर—शरीरादि व्यतिरिक्तः पुमान् ॥ १३९ ॥

अर्थ—शरीर को आदिले प्रकृति तक जो २४ पदार्थ हैं उनसे जो पृथक् है उसका नाम पुरुष है ?

प्रश्न—शरीरादि से जो भिन्न है उसका ही नाम पुरुष है इसमें क्या हेतु है।

उत्तर—संहतपदार्थत्वात् १४०

जैसे शय्या आदिक संहत पदार्थ दूसरे के वास्ते सुख के देनेवाले होते हैं अपने वास्ते नहीं, इसी प्रकार प्रकृत्यादिक पदार्थ भी दूसरे के वास्ते हैं खुलासा भाव आशय यह है कि प्रकृत्ति आदि जितने संहत पदार्थ हैं वह किसी दूसरे के वास्ते हैं और जो वह दूसरा है उसी का नाम पुरुष है, औरसंहत देहादि से भिन्न का नाम पुरुष है यह पहले भी कह आये हैं, फिर यहां कहना हेतुओंकी सिर्फ गिनती बढानी है।

प्रश्न—पुरुषको प्रकृति ही क्यों न माना जाय इसमें क्या कारण है।

उत्तर—त्रिगुणादि विपर्ययात् ॥ १४१ ॥

अर्थ—त्रिगुण अर्थात् सुख दुःख मोह आदि शब्द से अविवेकादि इनसे विपरीत होने से पुरुष प्रकृति नहीं होसकता अर्थात् वह प्रकृति से भिन्न है क्योंकि ५ त्रिगुणत्व विशिष्ट का नाम प्रकृति है अर्थात् सतोगुण,

रजोगुण, तमोगुण इनसे जिसका सम्बन्ध है उसका ही नाम प्रकृति माना है, और जिस में नित्य शुद्धत्व बुद्धत्व मुक्तत्व यह धर्म है उसकाहीनाम पुरुष है तो विचारना चाहिये प्रकृति और पुरुष में कितना भेद है इसही कारण पुरुष को प्रकृति नहीं मान सकते हैं।

अधिष्ठानाच्चेति ॥ १४२ ॥

अर्थ—और भी कारण है, पुरुष अधिष्ठान होने से प्रकृति से जुदा ही है अधिष्ठान अधिष्ठेय संयोग से मालूमपड़ता है कि दो के विना संयोग होई नहीं सकता इससे सिद्धहुआ कि पुरुषप्रकृति से भिन्न है (आशय) यह है किजब प्रकृतिको आधार कहते हैं तबउस में आधेय भी जरूर होना चाहिये वह आधेय पुरुष है।

(प्रश्न) अधिष्ठान किसको कहते हैं॥

(उत्तर) आधार को॥

(प्रश्न) आधार शब्द का क्याअर्थ॥

(उत्तर) रखने की जगह जैसे पात्र॥

(प्रश्न) अधिष्ठेय किसको कहते हैं॥

(उत्तर) आधेय को॥

(प्रश्न) आधेय शब्द का क्या अर्थ है॥

(उत्तर) रखने की चीज को आधेय कहते हैं जैसे घृत (घी)

भोक्तृ भावात् ॥ १४३ ॥

(अर्थ) यदि यह कहो कि शरीरादि कही भोक्ता है तो कर्त्ता और कर्म का विरोध होता है क्योंकि आपही अपने को भोग नहीं सकता अर्थात् शरीरादिक प्रकृति के धर्म हैं और सूर्यचन्द्र मादिक भी प्रकृति के धर्म हैं इस कारण आप अपना भोग नहीं करसक्ता॥

कैवल्यार्थंप्रवृत्तेश्च ॥ ११४ ॥

अर्थ—यदि शरीरादिक को ही भोक्ता माना जायगा तो दूसरा दोष यह भी होगा कि मोक्ष के उपाय करने में किसी की प्रवृत्ति न होगी क्योंकि शरीरादि के विनाश होने से आपही मोक्ष होना सम्भव है और तीसरा दोष यह होगा किसुख दुःखादि प्रकृति के स्वाभाविक धर्म हैं, और स्वभाव किसी का नाश नहीं होता इस कारण मोक्ष असम्भव है इससे पुरुष कोही भोक्ता मानना ठीक है पूर्व कहे हुये प्रमाणों से पुरुष को २४ तत्वों से भिन्न कहचुके अब पुरुष क्या वस्तु है यह विचार करते हैं?

जड प्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥ १४५ ॥

इस विषय में वैशेषिक कहते हैं कि अप्रकाश स्वरूप जड आत्मा मन के संयोग होने से प्रकाश होता है यह कथन सब प्रकार अयोग्य है क्योंकि लोक में जड (प्रकाश रहित) काष्ट लोष्टादिक हैं और इन में प्रकाश किसी सूरत नहीं देखने में आता इस कारण सूर्यादिक के समान प्रकाश रूप पुरुष जानना चाहिये।

प्रश्न—प्रकाशस्वरूप आत्मा में धर्म धर्मी भाव है या नहीं॥

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा॥१४६॥

(उत्तर) नहीं कारण यह है कि पुरुष निर्गुण है इसी सबब चित् धर्म वाला नहीं होसकता क्योंकि गुण प्रकृति के धर्म हैं।

(प्रश्न) मैं जानताहूं, इत्यादिक अनुभवों से पुरुषमें धर्म धर्मी भाव कल्पना किया जाताहै

उत्तर—श्रुत्या सिद्धस्य नाप-

लाप स्त्रत् प्रत्यक्षबाधात्॥ १४७

अर्थ—यद्यपि उक्त अनुभवोंसे पुरुषमें धर्मी भाव कल्पना किया जाताहै लेकिन युक्ति और श्रुति इन दोनों में विरुद्ध है क्यों कि, श्रुतियों में भी, साक्षी चेताके वलो निर्गुणश्च, इत्यादि बिशेषणों से पुरुषको निर्गुण ही प्रति पादन कियाहै, एवं उस अनुभव प्रत्यक्ष में दोष भी हो सकतहै क्योंकि वह अनुभव किसको होगा यदि पुरुषको होगा तो ज्ञान को पुरुष से पृथक् वस्तु मानना पड़ेगा इस कारण पुरुष निर्गुण है,

प्रश्न—जो पुरुष प्रकाश स्वरूपही है तो सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की कल्पना नहीं होसकती क्योंकि उन अवस्थाओं में प्रकाश स्वरूपता नहीं रहती है

उत्तर—सुषुप्त्याद्य साक्षित्वम् १४८

अर्थ—पुरुष सुषुप्ति का आद्य साक्षीहै अर्थात् जिन बुद्धि वृत्तियों का नाम सुषुप्ति वहहै बुद्धि पुरुष के आश्रयहै इसी कारण उस सुषुप्ति का आदि साक्षी पुरुष है और सुषुप्ति बुद्धि का धर्महै,

प्रश्न—यदि पुरुष प्रकाश स्वरूपहै और बुद्धि वृत्तियों का आश्रय है तो वह पुरुष एक है या अनेक

उत्तर—जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष वहुत्वम् १४९

संसार में जन्म को आदि लेकर अनेक अवस्था देखने में आती हैं, तो इससे ही सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत हैं क्योंकि यदि सब बुद्धि वृत्तियों का आकार एकही पुरुष होता तो वह घट है इस घट को मैं जानता हूं, इस घट को मैं देखता हूं इस प्रकार का अनुभव जिस क्षण में एक बुद्धि को होता है उसी क्षण में सब बुद्धियों को होना चाहिये क्यों कि वह एक ही सबका आश्रयी है लेकिन संसार में ऐसा देखने में नहीं आता इस कारण पुरुष अनेक हैं और जो कोई२ टीकाकार इससूत्रका यहअर्थ करतेहैं कि जन्मादि व्यवस्थाहीसे बहुत से पुरुष प्रतीत (मालूम) होते हैं वस्तुतः नहीं उनका, कहना इसकाकारण अयोग्य है (पुण्यवान् स्वर्गेजायत्ते) (पापी नरके) अज्ञोवध्यते, ज्ञानी मुच्यते पुण्यात्मा स्वर्ग में पैदा होता है, पापी नरक में पैदा होताहै, अज्ञबंधन को प्राप्त होता है, ज्ञानी मुक्त होता है, इत्यादि श्रुतियां बहुत्व को (बहुत सारों) प्रतिपादन (साबूत) करती हैं, उनसे विरोध होगा।

प्रश्न—एक पुरुष कीही अनेक जन्मादि व्यवस्था होसकती है या एक पुरुष की एक ही जन्मादि व्यवस्था है।

उत्तर—उपाधि भेदप्ये कस्य नाना योग आकाशस्येव घटादिभिः १५०

अर्थ—उपाधिभेद (शरीरादि) होने पर भी एकपुरुष का अनेक जन्मों में अनेक शरीरों से योग (मेल) होताहै, जैसे कि एक आकाश का घटादिकों के साथ योग होताहै (खुलासा) एकही पुरुष जन्मांतर में अनेक उपाधियों को धारण करता है, और अनेक योगवाला कहाता है, आकाश के समान, जैसे कि आकाश एकही है लेकिन जब घटके साथ योग को प्राप्त होताहै तो घटाकाश क-

हलाता है और मठ साथ योगको प्राप्त होताहै तो मठाकाश कहलाता है, लेकिन यह उपाधियां आकाश को एकही समय और एकही देशमें एक साथ नहीं होसकतीं अर्थात् जितने स्थान के आकाशका नाम मठाकाश है, उसवक्त उसही आकाशका नाम घटाकाश किसी प्रकार नहीं होसकता किन्तु मठकी उपाधि को नाश करके दूसरे वक्त घटके स्थापन होने पर घटाकाश कहसकते हैं इसप्रकारही पुरुष भी एक देशकाल में अनेक उपाधियों (शरीरादि) को नहीं धारण करसकता है किंतु अनेक काल में अनेक उपाधियों को धारण करके नानायोगवाला कहने में आता है अर्थात् एकही जीव कभी मनुष्य कभी पशु पांक्षि आदि नानाप्रकार के शरीर धारण करके एकही रहता है, इसही प्रकार अनेक जीव अनेक उपाधियों को धारण करते हैं यह ज्ञानियों कोही अनुभव होसकता है ॥ और भी इसही विषय में कहते हैं ॥

उपाधिर्भिद्यते नतुत द्वान् १५१

अर्थ—उपाधी के बहुत से रूप होते हैं, और उपाधी कोही नानारूपों से बोलते हैं लेकिन उपाधी वाला पुरुष एकही है यद्यपि अनेक नव्य (नवीन) वेदान्त शास्त्र के जानने वाले यह कहा करते हैं कि एकही आत्माका कार्य कारण उपाधि में प्रतिविम्ब के पड़नेसे जीव ईश्वर का भेद है और प्रतिविम्ब आपस में जुदे होने से जन्मादि व्यवस्था भी होसकती है, यह उनका कथन इस प्रकार अयोग्य है इसमें भेद और अभेद की कोई कल्पना नहीं होसकती क्योंकि विम्ब (परछांई वाला) प्रतिविम्ब (परछांई) इन दोनों की बिना अलैहदगी माने विम्ब प्रतिविम्ब भावही हो नहीं सकता और जीव को ब्रह्मका प्रतिविम्ब मानते हैं तो देखते हैं कि प्रतिविम्ब जड है अतएव पुरुष को भोक्ता वद्ध मुक्त कभी नहीं कह सकते हैं और जीव ब्रह्मकी एकता के विषयमें हानि प्राप्त होगी अतएव सांख्य मतानुसार जीव ब्रह्म को एक मानना भी नहीं होसकता है एकही ब्रह्म जीव रूप को धारण करता है इस पक्ष का खण्डन इससूत्र से होता है,

एव मेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्ध धर्मा ध्यासः १५२

अर्थ—यदि एकही ब्रह्म सम्पूर्ण उपाधियों से मिलकर जीव रूप होजाता है तो उस में विरुद्ध धर्म दुःख वंधनादि का अभ्यास अवश्य होगा, इसकारण जीव ब्रह्म को एक मानना योग्य नहीं है,

प्रश्न—जवकि पुरुष को निर्धर्म कह चुके तबजन्म मरण मोक्ष वन्ध आदिधर्म क्यों कर हो सकते हैं,

उत्तर—यह धर्म परिणामी नहीं है, जैसे स्फटिक मणिके पास काला पीला हरा इत्यादि रंगतों के रखदेने से वह मणि भी नीली पीली काली दीखने लगती है लेकिन मणि तो वास्तव में सफेद ही है इसप्रकार ही पुरुष में भी बुद्धि के धर्म सुख दुःखादि शरीर के धर्म पिता पुत्रादि प्रतीत होते हैं।

अन्य धर्मत्वेपिनारोपात् तत् सिद्धे रेकत्वात् १५३

अर्थ—बुद्धि आदिको का धर्म जो

सुख दुःखादि उस धर्म का पुरुष में आरोप करने पर भी पुरुष को परिणामित्व की सिद्धि नहीं होसकती क्योंकि सुख दुःखादि पुरुष के धर्म नहीं है किन्तु बुद्धि के धर्म हैं पुरुष जन्मान्तर में एक ही बना रहता है।

प्रश्न—जब हरएक शरीर में एक एक पुरुष है तो नाना (सैकड़ों) पुरुष सिद्ध हुये और 'एक मे वा द्वितीयं ब्रह्म' इत्यादिक अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों से बिरोध होगा।

उत्तर—नाद्वैत श्रुति विरोधो जातिपरत्वात्१५४

अर्थ—अद्वैत को प्रतिपादन (कहना) करने वाली श्रुतियों से बिरोध होगा क्योंकि वहां पर अद्वैत शब्द जाति पर है जैसे कि एक आदमी के समान अनेक आदमी हैं, इस तरह ईश्वर के समान कोई नहीं है जैसे संसार में देखने में आता है कि फलाना पुरुष अद्वीतीय है इसका आशय यह ही समझा जाता है कि उसके समान दूसरा और कोई नहीं है। इसही प्रकार ईश्वर को भी अद्वैत व अद्वितीय कहते हैं।

प्रश्न—जिस रीति से अद्वैत श्रुतियों का विरोध दूर करने के वास्ते ईश्वर में अद्वैत शब्द जाति पर कहा उस प्रकार ही पुरुष को भी ईश्वर का ही रूपान्तर क्यों नहीं मानते।

उत्तर—विदित बंधकारणस्य दृष्ट्यातद्रूपम् १५५

अर्थ—मनुष्य के बन्ध आदि कारण सब बिदित हैं (जाहिर हैं) और ईश्वर नित्य बुद्ध मुक्त शुद्ध स्वरूप है इस कारण पुरुष ईश्वर का रूपान्तर नहीं होसकता।

प्रश्न—यदि जीव ईश्वर का रूपान्तर नहीं है तो अनेक शरीर धारण करने पर भी एक ही पुरुष रहता है इसमें क्या प्रमाण है।

उत्तर—नान्धादृष्ट्याचक्षुष्मतामनुपलम्भः १५६

अर्थ—जो पदार्थ अंधे को नहीं दीखे उसका अभाव नेत्रवान् मनुष्य कदापि नहीं कहसकता क्योंकि उसकी नेत्रेन्द्रिय की शक्तिनष्ट होगई है इस कारण उसको दीख नहीं सकता और चक्षुष्मान् की नेत्रेन्द्रिय की शक्ति वर्तमान् है इस कारण वह अभाव (न होना) नहीं कहसकता।

प्रश्न—पुरुष मुक्त होते ही अद्वैत ब्रह्म रूप होजाता है।

उत्तर—वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् १५७

अर्थ—यद्यपि वाम देवादिक मुक्त होगये लेकिन अद्वैत स्वरूप तो नहीं हुये क्योंकि यदि मुक्त जीव सबही अद्वैत स्वरूप होजाते तो आज तक सहज सहज सब पुरुष अद्वैत होकर पुरुष का नाम मात्र भी न रहता।

प्रश्न—वाम देवादिकों का परम मोक्ष नहीं हुआ।

उत्तर—अनाद्यावद्ययावदभावाद्भविष्यदप्येवम् १५८

अर्थ—अनादि काल से लेकर आजतक जो बात नहीं हुई है वह भविष्यत् काल में भी न होगी यही नियम है इस से यह सिद्ध होता है कि अनादि काल से लेकर आजतक कोई भी पुरुष मुक्त होकर ब्रह्म नहीं हुआ

क्योंकि पुरुषों की संख्या (गिनती) कमती देखने में नहीं आती और नई पुरुषोंकी उत्पत्ति मानी नहीं गई है तो भविष्यत् काल में (होने वाले में) भी ऐसा ही होगा, अब मोक्ष के विषय में सांख्य कार अपना सिद्धान्त (निश्चय) कहते हैं ।

इदानी मिव सर्वत्र नात्यन्तो च्छेदः १५९

अर्थ—इस वर्तमान् (मौजूद) काल के दृष्टान्त से यह जानना चाहिये कि पुरुष के बंधन का किसी समय में भी अत्यन्त उच्छेद नहीं होसकता इसका मतलब यह है कि कोई भी पुरुष ऐसा मुक्त नहीं है कि फिर उसका कभी बंधन होसके और इससे यह भी मालूम होता है कि मुक्त पुरुष का फिर भी जन्म होता है ।

प्रश्न—मोक्ष का क्या स्वरूप है ।

उत्तर—व्यावृत्तो भयरूपः १६०

अर्थ—मुक्ति संसार के दुःख सुख दोनों ही से बिलक्षण है अर्थात् मुक्ति में पुरुष को शान्त सुख होता है यह ही स्वरूप है ।

प्रश्न—जबकि पुरुष को साक्षी कहचुके वह साक्षीपना मोक्ष समयमें नहीं रहसकता क्योंकि वहां बुध्यादिक का अभाव है तो पुरुष सदा एक रूप रहता है यह कहना भी असंगत हुआ ।

उत्तर—साक्षात् संबंधात् साक्षित्वम् १६१

अर्थ—पुरुष को जो साक्षित्व कहा है वह बुद्धि आदि के साथ साक्षात् संबध में कहा है किन्तु वास्तव में पुरुष साक्षी नहीं है क्योंकि पाणिनी मुनि ने साक्षी शब्द का ऐसा अर्थ करा है, साक्षा द्द्रष्टरि संज्ञायाम्, इस सूत्र से साक्षी शब्द निपातन किया है, कि जितने समय में निरन्तर देखता रहताहै उतनेहीं समय में उसकी साक्षी संज्ञा है इससे यह सिद्ध होता है कि जितने समय तक पुरुष का बुद्धि से सबंध रहता है उतनेही समय तक पुरुष की साक्षी संज्ञा रहती है अथवा बुद्धि के संसर्ग (मेल) से पुरुष में दुःख सुख आदि को माना जाय तो पुरुष का वास्तव में दुःखादि से मुक्त होने में यह दोष होगा कि ॥

नित्य मुक्तत्वम् १६२

अर्थ—यदि पुरुष को नित्यमुक्त मानें तो मुक्ति कासा धन करना व्यर्थ होता हैं और मुक्ति प्रतिपादक जो श्रुतियां हैं उन में भी दोषारोपण होगा और इस सूत्र के अर्थ में जो विज्ञान भिक्षु नें (नित्यमुक्तत्वम्) यह पुरुष को विशेषण दिया है अर्थात् पुरुष को नित्य मुक्त माना है यह कथन इस कारण अयोग्य है कि इदानीमिव सर्वत्रना त्यन्तोच्छेदः) इस सूत्रसे पुरुषको अनित्यमुक्ति कपिलाचार्यने मानीहै, इससे यहां विरोध होगा उन टीका कारों ने यह न सोचा कि क्या उन ऋषियों की भी बुद्धि मनुष्यों की बुद्धिके समान क्षणिक होतीहै किकभीकुछ कहे और कभी कुछ कहे जबकि उक्त सूत्र इदानी मित्यादि से पुरुषको अनित्य मुक्त प्रतिपादन करचुके फिर नित्यमुक्त कैसेकह सकते हैं और पूर्वोक टीका कारके कथन में इस कारण से भी अयोग्यता कि जो दोष कपिलाचार्य को अपने कहे हुये विशेषणों से

दीखे उनके दुरुस्त करने के लिये (साक्षात् संबंधात् साक्षित्वम्) यह सूत्र फिरकहा इसी प्रकार (नित्यमुक्तत्वम्) और (औदासीन्यं) यह दो तरहांके दोष आमंगे उनका समाधान इस अध्याय के अन्तके सूत्र से सिद्धकरदिया गया है इसही सबब (नित्यमुक्तत्वम) और (चेति औदा सीन्यं) यह दोनों सूत्र दोष के दिखाने वाले हैं ॥

औदासीन्यञ्चेति १६३

अर्थ—और पुरुष को वास्तव में मुक्त माने तो औदासीन्य दोष होगा क्योंकि पुरुष का किसी से संवध ही नहींहै तोवह किसी कर्म का कर्त्ता क्यों होगा जबकिसी कर्म का कर्ता तो रहाही नहीं, तो बन्धन आदि मे क्यों पडेगा तब उसमें औदासीन्य दोषहोगा इस सूत्रका भाव और पुरुष को कर्त्तत्व अगले सूत्र से प्रतिपादन (साबूत) करें गे ॥

प्रश्न—औदासीन्यंचेति इस सूत्र में इति शब्द क्यों हैं ॥

उत्तर—यह इसवास्ते है कि पुरुष की सिद्धि में दोषादि का खण्डन करचुके ॥

उपरागात् कर्तृत्वंचित्सान्निध्यात् चित्सान्निध्यात् १६४

अर्थ—पुरुष में जो कर्तृत्त्व है सो बुद्धि के उपराग से है और बुद्धि में जो चित्त शक्ति है वह पुरुष के संसर्गसे है यहां पर जो चित्त सान्निध्या यह दो दफे कहा है सो अध्याय की समाप्ति का जतानेवाला है और इस अध्याय में शास्त्र के मुख्य चारही अर्थ कहेगये है (हेय) त्यागनेके लायक (हान) त्यागना हेय और हान और इन दोनों के हेतु ॥

इति सांख्य दर्शने प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

शास्त्र का तो विषय निरूपण कर चुके । अब पुरुष को अपरिणामित्व ठहराने के वास्ते प्रकृति से सृष्टि का होना विस्तार (फैलाव) से द्वितीय (दूसरे) अध्याय मे कहेंगे और इसही दूसरे अध्याय में प्रधान के जो कार्य हैं उनके स्वरूप को विस्तार से कहना भी है क्योंकि प्रकृति के कार्य्यों से पुरुष का ज्ञान अच्छे तरह से होता है कारण यह है कि प्रकृति के कार्य्यों के ज्ञान हुये विना मुक्ति किसी सूरत नहीं होसकती अर्थात् जब तक पुरुष, प्रकृति, और प्रकृति के कार्य इन तीनों का अच्छी तरह से ज्ञान न होगा तब तक मुक्ति भी न होगी किन्तु उन के जानने ही से मुक्त होता है ।

प्रश्न—अपरिणामित्व किसको कहते हैं ।

उत्तर—जो परिणाम को प्राप्त न हो ।

यदि अचेतन प्रकृति निष्प्रयोजन (वेमतलब) सृष्टि को पैदा करती है तो मुक्त को भी वंध की प्राप्ति हो सकती है इस आशय को विचार करके सृष्टि के पैदा होने का प्रयोजन इस सूत्र में कहते हैं ।

विमुक्त मोक्षार्थंस्वार्थं वाप्रधानस्य १

अर्थ—पुरुष मे जो प्रतिविम्ब संवन्ध से दुःख मालूम पडता है उसकी मुक्ति के वास्ते अथवा स्वार्थ अर्थात् पुरुष के सम्बन्ध से जो बुद्धि आदि को दुःख होते हैं उन के दूर करने के लिये प्रधान अर्थात् प्रकृति को कर्तृत्व है और इस सूत्र में कर्तृत्व शब्द पहले सूत्र से लाया गया है ।

प्रश्न—यदि मोक्ष के वास्ते ही सृष्टि होती है तो एक दफे की ही सृष्टि से सब पुरु-

षों का मोक्ष होजाता, बारम्बार सृष्टि के होने का क्या कारण है।

उत्तर—विरक्तस्य तत्सिद्धेः २

अर्थ—एक दफै की सृष्टि से मोक्ष नहीं होता किन्तु बहुत से जन्म मरण व्याधि आदि नाना प्रकार के (सैकडों) दुःखों से अत्यन्त (जादे) सप्त (दुःखित) होने पर जब प्रकृति पुरुष का ज्ञान पैदा होता है तब वैराग्य द्वारा मोक्ष होता है और वह वैराग्य यक दफै की सृष्टि से आज तक किसी को पैदा नहीं हुआ इस में यह सूत्र प्रमाण है।

न श्रवण मात्रात् तत्सिद्धिर नादिवासनाया वलवत्वात् ॥३॥

अर्थ—मुक्ति श्रवण मात्र से भी नहीं हो सकती क्योंकि श्रवण भी बहुत जन्मों के पुण्यो से होता है तथापि श्रवण मात्र से वैराग्य की सिद्धि नहीं होती है किन्तु विवेक के साक्षात्कार से मुक्ति होती हैं। और सा-क्षात्कार शीघ्र (जल्दी) नहीं होता अनादि मिथ्या वासना के वलवान् होनेसे, और उस वासना के रहते हुये पुरुष मुक्त नहीं होसकता किन्तु योग से जो विवेक साक्षात्कार होता है उसके ही द्वारा (जारिये से) मुक्त होता है और इस योग में सैंकडों विघ्न पैदा होजाते हैं इस कारण यह योग भी बहुत जन्मोंमें सिद्ध होता है इस कारण जन्मान्तर में वैराग्य को प्राप्त होकर किसी समय में कोई २ पुरुष मोक्ष को प्राप्त होजाते हैं किन्तु सब नहीं मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—सृष्टि का प्रवाह (जन्म मरण आदि किस तरह) चल रहा है।

उत्तर—वहुभृत्य वद्दा प्रत्येकम् ४

अर्थ—जैसे कि एक गृहस्थ से सैकडों नौकर वाल वृद्ध स्त्री पुरुष आदि का क्रम से भरण पोषण (भोजन वस्त्र आदि) होता है इसही प्रकार प्रकृति के सत्वादि गुण प्रत्येक सैकडों पुरुषों को क्रम से मुक्त कर देते हैं इस वास्ते कोई २ मुक्त हो भी जाते हैं लेकिन और जो वाकी मनुष्य हैं उनकी मुक्ति के वास्ते सृष्टि प्रवाह की जरुरत है क्यों कि पुरुष सैकडों हैं।

प्रश्न—प्रकृति सृष्टि की करनेवाली क्यों-है, क्योंकि पुरुष को ही सृष्टिकर्त्ता सब मानते हैं।

उत्तर—प्रकृति वास्तवेचपुरुषस्या ध्यास सिद्धिः ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि वास्तव में (सत्य से) प्रकृति ही सृष्टि की पैदा करने वाली है तथापि (तौ भी) सृष्टि के करने मे पुरुष की अध्यास सिद्धि है।

प्रश्न—अध्यास किसको कहते हैं।

उत्तर—अध्यास उसे कहते हैं कि काम दूसरा करे और नाम दूसरे का हो जैसेकि लडाई में योधा (वीर लोग) अपनीशक्तिसे जीत और हार करते है लेकिन वह जीत हार सव राजाही की गिनीजाती है इसको ही अध्यास कहते है॥

प्रश्न—वास्तव में प्रकृति ही सृष्टि करने वाली कैसे है, क्योंकि सृष्टि को अनित्य शास्त्रों ने प्रतिपादन (सावूत) किया है यदि ऐसा है तो उस सृष्टि का कारण जो प्रकृति है वह भी अनित्य होगी।

उत्तर—कार्य तस्तत्सिद्धेः ॥६॥

अर्थ—कार्यों के देखने ही से प्रकृति

वास्तव कर्तृत्व (कर्ता होना) की सिद्धि होसकती है, क्योंकि यह सृष्टिरूपी कार्य प्रकृति के सिवाय और किसका होसकता है यदि पुरुष का कहैं तो पुरुष में परिणामित्वकी प्राप्ति आती है और यदि प्रकृतिका न कहैं तो किसका यह सन्देह पैदा होता है, इसकारण प्रकृति ही को वास्तव में कर्तृत्व है और जो सृष्टि के अनित्यत्व में स्वप्न का दृष्टान्त देते हैं सो भी ठीक है क्योंकि स्वप्न भी अपनी अवस्था में सत्य ही होता है इस कारण सृष्टि नित्य है और उसका कारण भी नित्य है,

प्रश्न—प्रकृति अपने मोक्ष के वास्ते सृष्टि करने में क्यों तैयार होती है।

उत्तर—चेतनोद्देशान्नियमः कण्टक मोक्षवत् ॥ ७ ॥

अर्थ—विवेक पुरुष प्रकृति का यह नियम है कि वह प्रकृति विवेक पुरुष के द्वारा (जरिये से) अपना मोक्ष करै, जैसे कि ज्ञानवान् पुरुष बड़ी बुद्धिमानी के साथ कांटे से कांटे को निकालता है, उसकाही सहारा और अज्ञानी मनुष्य भी लेते है इस तरहां से प्रकृति को भी जानना चाहिये।

प्रश्न—पुरुष में स्रष्टत्व (सृष्टिका करने वालापन) गिनने ही मात्र कहा सो ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति के मेल से पुरुष भी महदादिकों के परिणाम को धारण करलेता है जैसे कि काठ जमीन के ही समान होजाता है उसकी तरहां पुरुष को भी होना चाहिये।

उत्तर—अन्ययोगेऽपितत्सिद्धिर्नाञ्जस्ये नायोदाहवत् ॥८॥

अर्थ—प्रकृति के साथ पुरुष का योग होने पर भी पुरुष वास्तव में सृष्टिकर्ता नहीं होसकता यह प्रत्यक्षही है जैसे कि लोहे और अग्नि के संयोग होने पर लोह अग्नि नहीं होसकता यह यद्यपि इसदृष्टांत से दोनों में परिणामित्व होसकता है क्योंकि अग्नि और लोहेने अपनी पहली अवस्था को छोड़ दिया है तौ भी एकही परिणामी होना चाहिये क्योंकि दोनो परिणामी होने से गौरव होता है और जो दोनोंही को परिणामी मानाजाय तो स्फटिकमणि में लाल या पीले रंगकी परछाई पड़ने से जो उसमें लाली वा पीलापन आताहै वोभी वास्तविक मानना पड़ैगा लेकिन वैसा माना नहीं जाता।

प्रश्न—सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण क्या है।

उत्तर—रागविराग योर्योगः सृष्टिः ॥ ९ ॥

अर्थ—राग और विराग इन दोनों के योग को सृष्टि कहते हैं। अर्थात् जिसमें राग और विराग इन दोनोका योगहो (मेल) उसे सृष्टि कहते हैं इन दोनो का योग होना ही सृष्टि करने का निमित्त कारण है॥

प्रश्न—सृष्टिप्रक्रिया [होना] किस तरह होतीहै।

उत्तर—महदादि क्रमेणपंच भूतानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—महत्तत्वादिकों से आकाश,वायु अग्नि, जल, पृथिवी, यह पंचभूत पैदा हुये यद्यपि प्रकृति का स्रष्टत्व अपनी मुक्ति के वास्ते हो क्योंकि वह प्रकृति नित्य है किंतु महदादिकों का अपने २ विकार का स्रष्टत्व

अपनी मुक्ति के वास्ते नहीं होसकता क्योंकि वहअनित्य है । अतएवमहदादिकोंकासृष्टत्व पराये वास्ते है अपने वास्ते नहीं ॥ और भी प्रमाण है ॥

आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥ ११ ॥

अर्थ—इन महदादिकों का सृष्टत्व पुरुष के मोक्ष के वास्ते हैं किंतु अपने वास्ते नहीं है क्योंकि महदादि विनाशी हैं (अर्थात्नाश वाले हैं)

प्रश्न—यदि महदादिकों का सृष्टत्व (बनाने वालापन) पराये वास्ते है तो प्रकृति के वास्ते होना चाहिये, पुरुष के वास्ते क्यों हैं ॥

उत्तर—महदादिक प्रकृति केही कार्य है इसकारण पर शब्द से पुरुष का ही ग्रहण होगा ।

प्रश्न—दिशा और काल की सृष्टि किस प्रकार से हुई है ।

उत्तर—दिक्काला वाकाशादिभ्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—दिशा और कालयह दोनों आकाश से पैदा हुये । इसकारण यह दोनों आकाश के समान नित्य हैं । अर्थात् आकाश में जो व्यापकता है वो व्यापकता इन दोनों में भी है इस कारण यह दोनों नित्य है । और जो खण्ड (टुकडा) दिशा और काल हैं सो उपाधियों के मेल से आकाश से पैदा होते हैं वह अनित्य होते हैं अब महदादिकों का स्वरूप और धर्म दिखाते हैं ।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥ १३ ॥

अर्थ—महत्तत्व का दूसरा नाम बुद्धि है। और अध्यवसाय नाम निश्चय का है उस निश्चय को ही बुद्धिः कहते हैं ।

तत्कार्यं धर्मादि ॥ १४ ॥

अर्थ—उस बुद्धिके कार्य धर्मादिक हैं तो मूर्ख पुरुषों की बुद्धि में अज्ञानादि निन्दित क्यों प्रबल (बलवान्) होते हैं ।

उत्तर—महदुपरागाद्विपरीतम् ॥ १५ ॥

अर्थ—रजोगुण और तमोगुण इनकेजाद्वे होने से महत्तत्व के कार्य जो धर्मादिक हैं सो विपरीति (उलटे) होजाते हैं, अर्थात् अधर्म अज्ञान अवैराग्य, अनैश्वर्य यह सब विपरीति होजाते हैं ॥ अब महत्तत्व के कार्य अहंकार को दिखाते हैं ।

अभिमानोऽहंकारः ॥ १६ ॥

अर्थ—अहंकरने वाले को अहंकार कहते हैं जैसे कुह्मार को कुम्भकार (घडेबनाने वाला) कहते हैं । और यह अहंकार शब्द अन्तःकरणका द्रव्य है अहंकार और अभिमान यह दोनों एकही वस्तु के नाम हैं ॥ अब अहंकार का कार्य दिखाते हैं ।

एकादश पञ्च तन्मात्रं तत् कार्यम् ॥ १७ ॥

नेत्र को आदि लेकर ११ इंद्रियां शब्द को आदि लेकर पंचतन्मात्रा सब अहंकार्य्य के कार्य हैं ।

सात्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृता दहङ्कारात् ॥ १८

अर्थ—विकार को प्राप्त हुये अहंकार से सात्विक मन होता है ॥ और यह भी समझना चाहिये कि राजस रजोगुण वाले अहंकार से सिर्फ दश इंद्रियां और तामस तमोगुण वाले अहंकार से पंचतन्मात्रा होती हैं, और मन सतोगुण से होता है इस कारण उससे ही ग्यारह इंद्रियां दिखाते हैं ।

कर्मेन्द्रिय बुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ १९ ॥

अर्थ—वाणी, हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ, (मूत्रस्थान) यह कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं॥ नेत्र, कान, त्वचा, (खाल) रसना (जीभ) घ्राण (नाक) यह पांचों ज्ञानेन्द्री कहलाती है इसप्रकार इनदशों इंद्रियों के साथ से ११ ग्यारहवां मन भी इंद्रिय संज्ञा को प्राप्त होता है इन काही नाम एकादशेन्द्री है।

प्रश्न—इंद्रियों की तो उत्पत्ति पंच भूतों से है।

उत्तर—आहंकारिक त्वेन भौतिकानि ॥ २० ॥

अर्थ—बहुत सी श्रुतियां ऐसी देखने में आती हैं जो अहंकार से ही इंद्रियों की उत्पत्ति को कहती हैं जैसे कि (एकोऽहमबहु स्याम्) एक में बहुत रूपों को धारण करता हूं इत्यादि इसकारण आकाशादि पंच भूतों से इंद्रियों कि उत्पत्ति कहना केवल भूल है।

प्रश्न—(अग्निं वागप्येति वातं प्राणः) अग्नि में वाणीलय होती है और पवन में प्राणलय होता है जबकि अग्नि इत्यादि श्रुतियां कहती हैं कि अग्नि में वाणीलय होजातीहै और वायु (हवा) में प्राणलय होजाता है तो उत्पत्ति (पैदायश) भी इनसेही क्यो न मानीजाय॥

उत्तर—देवता लय श्रुतिनारम्भकस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—अग्नि आदि श्रेष्ट गुणसे युक्त पदार्थों में लयदीखता है लेकिन उत्पत्ति नहीं दीखती और यह कोई नियम भी नहीं है जो जिसमें लय हो वह उससेही पैदा भी हो जैसे कि जलकी बूंद जमीन में लय होजाती है लेकिन वह उस से पैदा नहीं होती इस कारण इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार ही से है किन्तु पंच भूतों से नहीं है॥

प्रश्न—इन्द्रियों के भीतर रहने वालामन नित्य है वा अनित्य।

उत्तर—तदुत्पत्ति श्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥ २२ ॥

अर्थ—नित्य नहीं है किन्तु अनित्य है क्योंकि॥ एतस्माज्जायते प्राणोमनःसर्वेन्द्रियाणि च॥ इससेही सब इन्द्रिया और मन पैदा होते हैं इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है और मन का नाश भी देखने में आता है क्यों कि बुढापे में चक्षु (तेज) आदि इन्द्रियों कि तरह नाश भी होता है इस से मन नित्य नहीं है॥

प्रश्न—नासिका आदि इन्द्रियों के गोलक (चिन्हों) को ही इन्द्रिय माना है॥

उत्तर—अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ २३ ॥

अर्थ—हां भ्रांत मनुष्यों की बुद्धि ने गोलक का नाम इन्द्रियमाना है लेकिन इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियों से इन्द्रियों का ज्ञान नहीं होता॥

प्रश्न—इन्द्रिय एकही है उसकीही अनेक शक्तियां अनेक विलक्षण काम करती रहती है॥

उत्तर—शक्तिभेदेऽपि भेद सिद्धौ नैकत्वम् ॥ २४ ॥

अर्थ—एक इन्द्रिय की भी अनेक शक्तियांओं के माननेसे इन्द्रियों का भेद साबूत होगया क्योंकि उन शक्तियों मेंही इन्द्रित्व का स्थापन होसकता है॥

प्रश्न—एक अहंकार से अनेक प्रकार की इन्द्रियों की उत्पत्ति होना यह बात तो न्याय से विरुद्ध है, क्यों कि एक वस्तुसे एकही वस्तु पैदा होनी चाहिये॥

उत्तर—नकल्पना विरोधः प्रमाण दृष्टस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—जो वस्तु प्रमाणही से सिद्ध

(माबूत) है उसका कल्पना करना न्याय से विरुद्ध है, क्योंकि महदादिकों में जोगुण दीखते हैं वह महदादिकों के कार्यों में भी दीखते हैं इसप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसेजो सिद्ध है वहन्यायसे विरुद्ध नहीं होसका वास्तव में तो मन एकही है लेकिन उसमन की शक्तियों के भेद से दश इन्द्रियां अपने अपने कार्य के करने में तत्पर (लगी) रहती है और इसही बातको अगला सूत्र भी पुष्ट करता है ॥

उभयात्मकं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ—पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां इन दशों इन्द्रियों से मन का संबंधहै अर्थात् मन के विना कोई भी इन्द्रि अपनेकिसी काम के करने में नहीं लगसकती ॥ अब इसकहे हुये सूत्रका अर्थ इस सूत्रमें विस्तार (फैलाव) से कहते हैं ॥

गुण परिणाम भेदान्नानात्व मवस्था वत् ॥ २७ ॥

अर्थ—गुणोंके परिणाम भेद से एक मन की अनेक शक्तियां इस तरह होती हैं जैसे कि मनुष्य जैसी संगति में बैठेगा उसके वैसेही गुण होजायंगे यथा कामिनी स्त्री की संगति से कामी, और वैराग्य शील वाले के साथ वैराग्य शील वालाहोजाता है इसही तरह मनभी नेत्रको आदि ले जिस इन्द्रि से संगति करता है उस इन्द्रि मन का मेल होजाता है। अब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों के विषय कहते हैं ॥

रूपादि रसमलान्तउभयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—रूपको आदि लेकर सौर मनत्याग पर्यन्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विषयहैं जैसे कि नेत्र का रूप, जिह्वा (जीभ) का रस, नाक का गंध, त्वचा (खाल) का का स्पर्श, कानों का शब्द, मुख का बचन हाथका पकडना, पैरों का चलना, लिंग का पेशाब करना, गुदा का विष्टा करना यह दशों विषय भिन्न भिन्न हैं और जिसका आश्रय लेकर यह इन्द्रि संज्ञा को प्राप्त होते हैं उस हेतु को भी कहते हैं ॥

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्व मिन्द्रियाणाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—इन्द्रियों का कणत्व आत्मा है अर्थात् जो जो इन्द्रियां अपने अपने काम के करने में लगती हैं वह आत्मा के समीप (धोरे) होने से करसकती हैं इस से आत्मा को परिणामित्वकी प्राप्ति नहीं होसकती जैसे कि चुम्बक पत्थर के संसर्ग से (मेल) लोहा खिंच आता है ऐसे ही आत्मा के संसर्ग से नेत्र आदि इन्द्रियों में देखने आदि की शक्ति पैदा होजाती है। अब अन्तः करण की वृत्तियों को भी कहते हैं।

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥ ३० ॥

अर्थ—महत्तत्व, अहंकार, मन यह तीनों अपनी २ असाधारणी वृत्ति वाले हैं। क्योंकि अन्तः करण में महत्तत्व के लक्षण निश्चय आदि, और अहंकार के लक्षण आत्मा में, और मनका लक्षण संकल्प विकल्प यह तीनों अन्तः करण के असाधारण धर्म हैं। इस बात को पहले भी कह आये हैं। कि निश्चय का नाम बुद्धि, अभिमान का नाम अहंकार, संकल्प विकल्प का नाम मन है। अब इन तीनों की साधारणी वृत्ति कहेंगे।

सामान्य करण वृत्तिः प्राणाद्या वायव.पञ्च ॥ ३१ ॥

अर्थ—प्राण वायु को आदि लेकर व्यान पर्यन्त जो पांच वायु हैं यह अन्तः करण की साधारणी वृत्ति कहलाते हैं अर्थात् जो वायु हृदय में रहता है उसका नाम प्राण है। और जो गुदा में रहता है उसका नाम अपान है, और जो कण्ठ में रहता है उसका नाम उदान है, जो नाभि में रहता है उसका नाम समान है, जो सारे शरीर में रहता है उस

वायु का नाम समान वायु है, यह सब अन्तः करण के परिणामी भेद हैं, और जो बहुत से प्राण और वायु को एक मानते हैं उनका मानना इस सबब से अयोग्य है कि, एतस्माज्जायतेप्राणः, मनः सर्वेन्द्रियाणि च खम्वायु ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी। इस में प्राण और वायु को अलाहदा अलाहदा माना है। अब आचार्य अपने सिद्धान्त को प्रकाश करते हैं कि जैसे वैशेषिक वाले इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से (एक समय समय में एक ही इन्द्री काम करेगी) मानते हैं उसको अयुक्त सिद्ध करते हैं।

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ३२

अर्थ—इन्द्रियों की वृत्ति क्रमसे भी होती है और वे क्रम के भी होतीहै क्योंकि संसार में दीखताहै कि एक आदमी जब पानी पीने में तत्पर होता है तब वह देखता भी है बुद्धि की वृत्तियां हीं संसार का निदान हैं अर्थात् जन्म मरण आदि सब बुद्धि की वृत्तियों से ही होते हैं इसको ही कहते भी हैं।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ३३

अर्थ—प्रमाण (प्रत्यक्ष आदि) विपर्य (झूंठा ज्ञान) विकल्प (सन्देह) नींद स्मृति (यादहोना) यह पांच बुद्धि की वृत्तियां हैं और इन से ही सुख दुःख पैदा होता है जब बुद्धि की वृत्तियां निवृत्त होजातीं हैं तब पुरुष के स्वरूप में स्थित होजातीं हैं इस बात को इस अगाडी के सूत्र से साबित करते हैं।

तन्निवृतुता वुप शान्तो परागः स्वस्थः ॥ ३४ ॥

अर्थ—बुद्धि की वृत्तियों के निवृत्त होने पर पुरुष का उपराग शान्त होजाता है। और पुरुष स्वस्थ होजाता है यही वात योग सूत्र में भी कही गई है कि जब चित्त की वृत्तियों का निरोध होजाता है तब पुरुष अपने स्वरूप में स्थित होजाता है। पुरुष का स्वस्थ होना यही है कि उसके उपाधि रूप प्रति बिम्ब का निवृत्त होजाना इसको ही दृष्टान्त से भी साबित करते हैं।

मूल—कुसुमवच्च मणिः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिक मणि में काले पीले इत्यादि फुलों की परछांई पडने से काले पीले रंग वाली वह स्फटिक मणि मालूम पडने लगती है और जब उन काले पीले फूलों को मणि के पास अलाहदा करदेते हैं तब वह मणि स्वच्छ (साफ) रहजाती है इसही तरह बुद्धि की वृत्तियों के दूर होने पर पुरुष राग रहित और स्वस्थ होजाताहै।

प्रश्न—यह इन्द्रियां किस के प्रयत्न से अपने अपने कामों के करने में लगी रहती है क्योंकि पुरुष तो निर्विकार है और ईश्वर से इन्द्रियों का कोई भी सम्बंध नहीं है।

उतूतर—पुरुषार्थं करणोद्भवो ऽप्यदृष्टो ल्लासात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—पुरुष के वास्ते इंद्रियों की प्रवृत्ति भी उसी कर्म के बशसे है जो कि पहिले प्रकृतिको कहआये हैं, और इसका दृष्टांत भी ३५वें सूत्र में देचुके हैं कि संयोग से जैसे एकका गुण दूसरे में मालूम होताहै उसीप्रकार प्रकृति का कर्म पुरुष संयोग से है वोही इन्द्रियों की प्रवृत्ति में हेतुहै। इस सूत्र में अपि शब्द से पूर्व कही हुई प्रकृति की याद दिलाकर पुरुष को कर्म से कुछ अंश में मुक्त किया है। और फिर भी इसी पक्ष को पुष्ट करने के वास्ते दृष्टांत देंगे। दूसरे के वास्ते भी अपने आप प्रवृत्ति होती है इसमें दृष्टांत भी देते हैं।

धेनु वद्वतूसाय ॥ ३७॥

अर्थ—जैसे कि बछडे के वास्ते गौ स्वयं (आपही) दूध उतार देतीहै दूसरे की कुछभी जरूरत नहीं रखती इसीप्रकार अपने स्वामी (पुरुष) के वास्ते इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वयं (अपने आप) होतीहै।

प्रश्न—भीतर और बाहर की सब इंद्रियां कितनी हैं ।

उत्तर—करणंत्रयोदशविध मवान्तरभेदात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—अवान्तर भेदसे इन्द्रियां तेरह तरह की हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां पांचकर्मेन्द्रियां और एक मन एक बुद्धिः और अहंकार इन भेदों के होने से ।

प्रश्न—अवान्तर कहनेका क्या प्रयोजन (मतलब) है ।

उत्तर—बुद्धिही सबइंद्रियों से मुख्य है।

प्रश्न—पुरुष के वास्ते इंद्रियों की प्रवृत्ति में सिर्फ बुद्धिही मुख्य है, और सब इंद्रियां गौण हैं तो बुद्धि में वो कौनसा मुख्यधर्म है।

उ०—इंद्रियेसुसाधकतमत्व गुणायोगात् कुठारवत् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जैसे कि पेड़के काटने में चोटका मारना मुख्य कारण है और उसके काटने का मुख्य साधन कुलाढा है इसही प्रकार इंद्रियोंको तो करणत्व और बुद्धिको साधक तमत्व अर्थात् जिसके बगैर किसी सूरत कार्य सिद्ध न हो) का योग है ।

प्रश्न—जब कि अहंकार भी इन्द्री माना गया है तो बुद्धि ही मुख्य कारण है ऐसा कहना अयोग्य है ।

उत्तर—द्वयोःप्रधानंमनोलोक वद्भृत्य वर्गेषु ॥ ४० ॥

अर्थ—बाह्य (बाहर) की और आभ्य न्तर (भीतर) की इन तेरह प्रकार के भेद वाली इन्द्रियों में बुद्धि ही प्रधान है, क्योंकि संसार में भी यही बात दीखती है, जैसे कि राजा के बहुत से नौकर चाकर होते हैं तथापि उन सबके बीच में एक मंत्री ही मुख्य होता है, और छोटे २ नौकर और जिमींदार आदि सैकडों होते हैं इस तरह सिर्फ बुद्धि प्रधान हैं और सब इन्द्रियां गौण हैं। और भी बुद्धि की प्रधानता को इन तीन सूत्रों से पुष्टि पहुंचती है ।

अव्यभिचारात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—यद्यपि बुद्धि सब इन्द्रियों में व्यापक है तथापि अपने कार्य में उस बुद्धि का अव्यभिचार (निश्चय) दिखाई पाडता है ।

तथा शेषसंस्कारा धारत्वात् ४२

अर्थ—जितने भी संस्कार हैं सबको बुद्धि ही धारण करती है । यदि नेत्र आदि अहंकार अथवा मन इनको ही प्रधान माने तो अंधे, बहरे, इत्यादिकों को स्मरण (याद) की शक्ति न होनी चाहिये लेकिन देखने में आता है कि उन लोगों को स्मरण शक्ति अच्छी तरह होती है, और तत्व ज्ञान के समय में मन अहंकार का लय भी होजाता है तो भी स्मरण शक्ति नष्ट नहीं होती जो कि बुद्धि का धर्म है।

स्मृत्यानुमानाच्च ॥ ४३ ॥

अर्थ—स्मृतिका अनुमान बुद्धिसेही होताहै क्योंकि चिन्ता वृत्ति (ध्यान की एक अवस्था) सब अवस्थाओं से श्रेष्ट है। और इससूत्र से यह भी मालूम होता है कि कपिलाचार्य बुद्धि और चित्त को एकही मानते हैं । और मतवादियों की तरह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन चारों को अन्तःकरण चतुष्टय नहीं मानते हैं ।

प्रश्न—चिंता वृत्ति पुरुष को ही होनी चाहिये ॥

उ० सम्भवेन्नस्वतः ॥ ४४ ॥

अर्थ—अपने आप पुरुष को स्मृति नहीं होसकती क्योंकि पुरुष कूटस्थ है ।

प्रश्न—जबकि बुद्धि को करण (मुख्य इंद्रिय) माना है तो और इंद्रियों से क्या प्रयोजन है ।

उत्तर—विना नेत्रादि इंद्रियों के बुद्धि

अपना कोई भी काम नहीं कर सकती यदि नेत्रादि इंद्रियों के विना भी बुद्धि और इंद्रियों का काम करसकती है तो अन्धे आदमी को भी देखने की शक्ति होनी चाहिये क्योंकि बुद्धि तो उसके भी होती है। परन्तु संसार में ऐसा देखने में नहीं आता इससे साफ सिद्ध होता है कि बुद्धि मुख्य है और सब इंद्रियां गौण हैं।

प्रश्न—जबकि बुद्धि को ही मुख्य (प्रधान माना है तो पहिले सूत्र में मनको उभयात्मक क्यों माना है।

उत्तर—आपेक्षिको गुणप्रधान भावः क्रिया विशेषात्॥४५॥

अर्थ—क्रिया के कमती बर्ती होने से गुणों का भी प्रधान भाव (बड़प्पन) एक दूसरे की बनिस्बत् से होता है। जैसे कि नेत्र आदि के व्यापार में मनुष्य (प्रधान) मनके व्यापारमें अहंकार मुख्य और अहकार के व्यापार में बुद्धि प्रधान है।

प्रश्न—इसपुरुष की बुद्धि इंद्रिही मुख्य है अर्थात् अन्य इंद्रियां गौण है।

तत्कर्मा जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे कि संसार में दीखता है कि जो आदमी कुलाडी को खरीदता है उस कुलाडी के व्यापार से खरीदने वाले को फल भी होता है इसप्रकार बुद्धि भी पुरुष के कर्मों से पैदा होती है अतएव बुद्धि आदिका फल पुरुष को मिलता है। इसकारण मनुष्य की बुद्धि इंद्रिही मुख्य है यह समाधान पहले करमी आये हैं। किपुरुष कर्म से रहित है लेकिन पुरुष में कर्म का आरोपण होता है दृष्टान्त भी इस विषय का दे चुके हैं जैसे कि राजा के सेवक इत्यादि युद्ध करैं और हार जीत राजा की गिनी जाती है॥ इसप्रकार ही पुरुष में कर्म का आरोपण होता है।

समान मर्मयोगे बुद्धेः प्रधान्यं लोक वल्लोकवत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—यद्यपि सब इन्द्रियों के साथ पुरुष का समान (बराबर) कर्मयोग है, तथापि बुद्धि ही को मुख्यता हैं जैसे कि राज्य के रहनेवाले चांडाल को आदि ले द्विजाती पर्यंत सबही लोग राजा की प्रजा हैं तथापि जिमीदार से मुख्य मंत्रीही गिनाजाता है इस दृष्टांत को संसार परंपरा के समान यहां समझलेना चाहिये॥

प्रश्न—लोकवत् यह शब्द दो दफे क्यों कहा॥

उत्तर—यह दो दफे का कहना अध्याय की समाप्ति दीखाता है॥

प्रश्न—इस अध्याय में कितने विषय कहेगये हैं॥

उत्तर—प्रकृति का कार्य, प्रकृति की सूक्ष्मता (बारीकी) दो प्रकार की इन्द्रियां अन्तःकरण आदि का वर्णन है इतने विषय कहे गये हैं॥

इति सांख्य दर्शने द्वितीयोध्यायःसमाप्तः

अथ तृतीयोध्यायः

अब इस तीसरे अध्याय में प्रधान जो प्रकृति है तिसका स्थूल कार्य और महाभूत (पृथिवी आदि) और दो तरह के शरीर यहसब कहते हैं।

अबिशेषा द्विशेषारम्भः ॥१॥

अर्थ—अविशेषात् अर्थात् जिससे छोटी और कोई वस्तु न होसके ऐसे भूत सूक्ष्म अर्थात् पंचतन्मात्राओं से विशेष (स्थूलमहाभूतों) की उत्पत्ति (पैदाइश) होती है। क्योंकि सुखादिकों का ज्ञानस्थूल भूतों मेंही होसकता है और सूक्ष्म भूत योगिमहात्माओं के हृदय में प्रकाश होते रहते हैं।

तस्माच्छरीरस्य ॥ २ ॥

तिन पूर्वोक्त (पहले कहेहुये) तेईस तत्वों से स्थूल सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—स्थूलशरीर किसको कहते हैं।

उत्तर—मनुष्यादिकों के शरीर को।

प्रश्न—लिङ्गशरीर किस को कहते हैं।

उत्तर—मन, बुद्धि और इंद्रियां जिसके जरिये से अपने २ काम करने में तत्पर रहते हैं उसको लिंग शरीर कहते हैं।

प्रश्न—सूक्ष्म शरीर किसको कहते हैं।

उत्तर—लिंग शरीर के कारण को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

प्रश्न—क्या तेईस तत्वों के बिना संसार की उत्पत्ति नहीं होसकती।

उत्तर—तद्बीजात् संसृतिः ३

अर्थ—तेईस तत्व शरीर के कारण हैं, और देखने में ऐसा ही आता है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः उन्हीं तेईस तत्वों से संसार की उत्पत्ति होती है॥ अब संसार की अवधि को भी कहते हैं।

आविवेकाच्च प्रवर्तनम विशेषाणाम् ४

अर्थ—अविशेष जो सूक्ष्म भूत हैं तिनकी सृष्टि प्रवृत्ति तभी तक रहती है जब तक विवेक (ज्ञान) नहीं होता ज्ञान के होते ही सूक्ष्म भूतों की प्रवृत्ति नहीं रहती।

प्रश्न—यदि अविवेक केही वास्ते सृष्टि का होना है तो महा प्रलय में भी सृष्टि का होना योग्य (जरूरी) है क्यों कि उस अवस्था में भी अविवेक बना रहता है।

उत्तर—उपभोगादितरस्य॥५॥

(अर्थ) जब अविवेक का उपभोग पूरा होजाता है तबही महाप्रलय होती हैं। जब कि अविवेक का भोगही बाकी न रहा तब सूक्ष्म भूत इस शरीर को क्यों पैदा करें गे और महाप्रलयावस्था में कर्मका भोग नाश होजाता है वासनां बनी रहती है क्यों कि कर्मों की वासना प्रवाह से अनादि है॥

सम्प्रति परि मुक्तोद्वाभ्याम्॥६॥

अर्थ—सृष्टि समय में पुरुष दोनों वासना और भोग बद्ध होता है॥

प्रश्न—परिमुक्त शब्दका अर्थ तो छूटना है, आप बद्ध अर्थ करते है॥

उत्तर—पहिले अध्यायके सूत्रों में पुरुष को भोक्तृत्वादि विशेषण दे चुके हैं इसकारण यहां अभोक्ता कहना अयोग्य है॥ दूसरे संसार दशा में ही पुरुष को सुख दुःख न होंगे तो क्या मुक्त अवस्था में होंगे। और जो सुख दुःख ही नहीं है तो मुक्ति का उपाय भी कोई न करेगा। तीसरे परिमुक्त शब्द का अर्थ मुक्त करना भी अयोग्य है यहां परि शब्द का अर्थ बद्ध करना ही ठीक है॥

अब स्थूल और सूक्ष्म दोनों तरह के शरीरों के भेद कहते हैं।

माता पितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्नतथा॥ ७ ॥

अर्थ—स्थूल शरीर दो तरहां के होते हैं एक तो वह जो माता पिताके संगम से पैदा होते हैं। दूसरे वह जो बगैर माता पिता के पैदा हों जैसे कि वर्षा ऋतु में चीर बहुटी इत्यादिक होते हैं॥

प्रश्न—पूर्व सूत्रों से साबित हुआ कि तीन प्रकार के शरीर हैं लेकिन पुरुष कौनसे शरीर की उपाधियों से सुख दुःख का भोक्ता होता है॥

उत्तर—पूर्वोत्पत्तेस्ततकार्यत्वम् भोगादेकस्य नेतरस्य॥ ८ ॥

अर्थ—लिंग शरीर की उपाधियों से ही पुरुष को सुख दु:खादिक होते हैं। क्यों कि संसार की आदि में लिंग शरीर की ही पैदा इस है इस सबब सुखादिक इसके कार्य हैं अत: एक लिंग शरीर की उपाधियों से ही पुरुष को सुखादिक हैं किन्तु स्थूल शरीर की उपाधियों से नहीं होते। क्योंकि जब स्थूल शरीर मृत्यु को प्राप्त होजाता है तब उस में सुखादिक नहीं देखने में आते।

प्रश्न—सूक्ष्म शरीर का स्वरूप क्या है

उत्तर—सप्त दशैकं लिंगम्॥९

पांच ज्ञानेन्द्रियां, और पांच कर्मेन्द्रियां मन, बुद्धि, अहंकार और पंच तन्मात्रा (रूप रस, गंध, स्पर्श शब्द,) यह सूक्ष्म शरीर हैं

प्रश्न—यदि लिंग शरीर एकही है तो अनेक शरीरों की आकृति (चेष्टा) में भेद क्यों होता है॥

उत्तर—व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥ १० ॥

स्थूल शरीर अनेक प्रकारके अनेक कर्मों के करने से होतेहैं अब विचार कराजाता हैं तो इससे यही बात साबूत होती है किजीवों के भोगका हेतु कर्मही है॥

प्रश्न—जबकि भोगों के स्थान (रहने की जगहा) लिंग शरीर को ही शरीरत्व हैं तो स्थूल शरीर को शरीर क्यों कहते हैं॥

उत्तर—तदधिष्ठाना श्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥ ११ ॥

अर्थ—पंच भूतात्मक (स्थूल) शरीरमें उस लिंग शरीर का अधिष्ठान (रहने का स्थान) के सबब से देह वाद है। अर्थात् लिंग शरीर का आश्रय स्थूल शरीर है इस ही सबब से स्थूल शरीर को भी शरीर कहते हैं॥

प्रश्न—स्थूल शरीर लिंग शरीर से दूसरा है इसमें क्या प्रमाण है।

उत्तर—नस्वातन्त्र्यात् तद्दते छायावच्चित्रवच्च ॥ १२ ॥

अर्थ—वह लिंग शरीर बगैर किसी आश्रय के नहीं रहसकता जैसे कि छाया किसी आश्रय के बिना नहीं रहसकती और जैसे कि तसवीर बगैर आधार (रहने की जगह) के नहीं खिच सकती है इसतरहां ही लिंग शरीर भी स्थूल शरीर के विना नहीं ठहर सकता है।

प्रश्न—यदि लिंग शरीर मूर्त्त द्रव्य है तो वायु आदि के समान उसका भी आधार आकाश होसकता है, और जगहा कल्पना करने से क्या मतलब है।

उत्तर—मूर्तत्वेऽपिनसंघातयोगात्तरणिवत् ॥ १३ ॥

अर्थ—यदि लिंग शरीर मूर्त्तत्व भी है तथापि वह किसी अव स्थान के विना नहीं रहसकता॥ जैसे कि बहुत से तेज इकट्ठे होकर बगैर पार्थिव (पृथिवी से पैदा होनेवाले) द्रव्य के आधार के नहीं रहसकते हैं। इसही तरहां लिंग शरीर भी बगैर किसी आधार के नहीं रह सकता।

प्रश्न—लिंगशरीर का परिमाण क्या है।

उत्तर—अणुपरिमाणतत्कृति श्रुतेः ॥ १४ ॥

अर्थ—लिंगशरीर अणुपरिमाणवाला अर्थात् ढका हुआ है। बहुत अणु नहीं है क्योंकि बहुतही अणु (सूक्ष्म) अवय रहित होता है। और लिंग शरीर अवयव वाला है कारण यह है कि लिंग शरीर के कार्य दीखते हैं। इसमें युक्ति भी प्रमाण है।

तदन्नमप्यत्व श्रुतेश्च ॥ १५॥

वह लिंग शरीर अन्नमय है इससबब अनित्य है क्योंकि इसविषय में श्रुतियां प्रमाण देती हैं। अन्नमयंहि सौम्यमन, आपोमयः प्राणः, तेजोमयीवाक् हे सौम्य यह मन अन्न मयहै। प्राणजलमय है। वाणी तेजमयी है, यद्यपि मन आदि कार्य भौतिक नहीं है तथापि दूसरे के मेलसे इनमें घटना बढना दीखता है इस सबब से ही अन्नमय मनको माना है।

प्रश्न—यदि लिंग शरीर अचेतन है तो उसकी अनेक शरीरों के वास्ते उत्पत्ति क्यों है।

उत्तर—पुरुषार्थसंसृतिर्लिङ्गानां सूपकार वद्राज्ञः ॥ १६ ॥

अर्थ—लिंग शरीर की पैदा इसपुरुष के वास्ते है। जैसे कि पाकशाला (भोजन वनाने की जगह) में रसोइये का जाना अपने स्वामी के वास्ते है। इसही तरह लिंग शरीर का होना भी पुरुष के वास्ते है लिंग शरीर का विचार होचुका। अब स्थूल शरीरका विचार कियाजाता है।

पाञ्च भौतिकोदेहः ॥ १७ ॥

(अर्थ) यह शरीर पांच भौतिक कहलाता है अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इनसे इसकी उत्पत्ति है।

चातुर्भौतिक मित्येके ॥ १८ ॥

कोई ऐसा कहते हैं कि चारही भूतों से स्थूल शरीर होता है क्योंकि आकाश तो अवयव रहित है इस कारण आकाश किसी के साथ विकार को प्राप्त नहीं होसकता है।

ऐकभौतिक मित्यपरे ॥ १९ ॥

और कोई ऐसा कहतेहैं यह स्थूल शरीर एक भौतिक है अर्थात् शरीर पार्थिव (पृथिवी का विकार) है और जो बाकी चार भूत हैं वह सिर्फ नाम ही मात्र है। या इस प्रकार जानना चाहिये कि एक एक भूत के सब शरीर हैं। मनुष्यों के शरीर में पृथिवी का अंश जादा है इस कारण यह शरीर पार्थिव है। और सूर्य लोक के बासियों में तेज ज्यादह है इससे उनका शरीर तैजस है। और शरीर स्वभाव से चैतन्य नहीं है इस पक्ष को दूर करते हैं।

नसांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येका दृष्टेः ॥ २० ॥

(अर्थ) जबकि पृथिवी आदि भूतों को अलैदा अलैदा करते हैं तब उनमें चेतन शक्ति नहीं दीखती अतः इससे सबूत होता है कि देह स्वभाव से चैतन्य नहीं है किन्तु किसी दूसरे चैतन्य के मेल से चैतन्य शक्ति को धारण करता है।

प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥ २१ ॥

(अर्थ) यदि शरीर को स्वभाव से चैतन्य मानाजाय तो यहभी दोष होसकता है कि प्रपञ्च, मरण, सुषुप्ति, आदि भिन्न भिन्न अवस्थायें नहीं होसकेंगी, क्योंकि जो देह स्वभाव से चैतन्य है तो मृत्यु काल में इसकी चेतन शक्ति कहां को भाग जाती है और २० वें सूत्र में जो यह बात कही है कि हरेक भूत के भिन्न भिन्न करने पर चेतनता नहीं दीखती अब इस पक्ष को भी पुष्ट करते हैं।

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येक परिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ॥ २२ ॥

अर्थ—यदि मदिरा की शक्ति के समान माना जाय जैसे कि अनेक पदार्थों के मिलने से मादकता शक्ति पैदा होजाती है इसही तरह पांच भूतों के मिलने से शरीर में चैतन्य शक्ति पैदा होजाती है ऐसा कहना भी योग्य नहीं है क्योंकि मदिरा में जो मादक

शक्ति है वह शक्ति उन पदार्थों में भी है जिन से मदिरा बनी है। यदि यह कहा जाय कि हरएक भूत में थोडी थोडी चेतनता है और सब को मिलकर बडी चेतनता होजाती है ऐसा कहना भी नहीं बनसकता क्योंकि बहुत सी चैतन्य शक्तियों की कल्पना करने में गौरव होजायगा इस सबब एक ही चैतन्य शक्ति का मानना योग्य है॥ और पहिले जो इस बात को कह आये हैं कि लिंग शरीर की सृष्टि पुरुष के वास्ते है और लिंग शरीर का स्थूल शरीर में सञ्चार भी पुरुष के वास्ते है उसका मतलब अब कहते हैं जोकि अत्यन्त पुरुषार्थ का हेतु है।

ज्ञानान्मुक्तिः॥ २३ ॥

अर्थ—लिंग शरीर से जो बुद्धि आदि उनसे ज्ञान पैदा होता है और ज्ञान से ही मुक्ति होती है॥

वन्धोविपर्ययात्॥ २४ ॥

अर्थ—विपर्यय नाम अज्ञान का है, अज्ञान से ही सुख दुःख रूप बंधन होता है। ज्ञानसे मुक्ति, और अज्ञानसे बंध होताहै इस विषय को तो कहचुके अब मुक्ति का विचार किया जाता है।

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ॥ २५ ॥

अर्थ—ज्ञान से ही मुक्ति होती है इस सबब मुक्ति का नियत कारण ज्ञान है इस वास्ते मुक्ति में ज्ञान और कर्म दोनों हेतु नहीं होसकते और मुक्ति में इस बात का कोई विकल्प भी नहीं है कि कर्म से मुक्ति हुई या ज्ञान से क्योंकि इसका तो ज्ञान ही नियत कारण है। और इस बात को ही इस सूत्र से मजबूत करते हैं।

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य॥ २६ ॥

अर्थ—जैसे स्वप्नवस्था और जागृत अवस्था इन दोनों से पहला तो झूंठा है दूसरा सच्चा है यह स्वप्नावस्था और जागृत अवस्था दोनों आपस में विरुद्ध धर्म वाले हैं अतः (इस कारण) एक समय में नहीं रहसकते इसही तरह ज्ञान और कर्म भी एक समय में नहीं रहसकते हैं। बस इसी से सिद्ध हो गया कि विरुद्ध धर्म वाले पदार्थ न तो मिल सकते हैं और न मुक्ति का हेतु हो सकते हैं और न इस विषय पर विकल्प करना चाहिये कि, किससे मुक्ति होतीहै। क्योंकि मुक्ति का नियत कारण ज्ञान है और न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेने के अमृतत्वमानशुः (कर्म से सन्तान से दान से किसी ने अमृतत्व नहीं पाया है) इत्यादि श्रुतियां भी कर्म को मुक्ति का अहेतु कहती हैं।

प्रश्न—यदि कर्म का कुछ भी फल नरहा तो कर्म का करना ही व्यर्थ है।

उत्तर—इतरस्यापि नात्यन्तिकम्॥ २७ ॥

अर्थ—कर्म का विशेष फल नहींहै किन्तु सामान्य ही फल है इस सूत्र में इतर शब्द से कर्म का ग्रहण इस लिये होसकता है कि इस प्रकरण में ज्ञान से मुक्ति होतीहै कर्म से नहीं इसी का प्रति पादन करते चले आते हैं इस वास्ते ज्ञान के अतिरिक्त कर्म का ही

ग्रहण होसकता है, यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञान के अतिरिक्त अज्ञान का ग्रहण किया सो भी ठीक नहीं क्योंकि इस सूत्र में आचार्य का अपि और नात्यन्तिक शब्द कहना कर्म के न्यून (कमती) फलका जताने वाला है जब इतर से अज्ञान का ग्रहण किया जाय तो ऐसा अर्थ होगा कि अज्ञान का थोडा फल है बहुत नहीं, इससे थोडे फल का अभिलाषी अज्ञान को ही उत्तम समझ सकता है इस वास्ते ऐसा अनर्थ करना अच्छा नहीं। इससे आचार्य ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को उत्तम ठहराया है। योगी के संकल्प सिद्ध पदार्थ भी मिथ्या नहीं है इस बात को अगाडी के सूत्र से और भी सबूत करेंगे।

संकल्पितेऽप्येवम् ॥ २८ ॥

अर्थ—योगी के संकल्प किये हुये पदार्थ भी इसी प्रकार सच्चे हैं।

प्रश्न—जबकि योगी के संकल्पित पदार्थों का कोई भी कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता तो वह मिथ्या क्यों नहीं हैं ॥

उत्तर—भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥ २९ ॥

अर्थ—प्राणायामादिकों से योगियों की भावना अर्थात् ध्यान अधिक होताहै इस वास्ते सब पदार्थ सिद्ध हैं उनमें प्रत्यक्ष कारण देखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि हम लोगों के समान योगियों के संकल्प झूंठे नहीं होते जैसे प्रकृति विना किसी का सहारा लिये महदादिकों को करती है और उसमें प्रत्यक्ष कारण की कोई जरूरत नहीं पड़ती इसही प्रकार योगी का ज्ञान भी जानना चाहिये ॥ इन पूर्वोक्त सूत्रों से यह बात सिद्ध होगई कि ज्ञान ही मोक्ष का साधन है अब ज्ञान किस तरह होता है इस बातको अगाड़ी के सूत्रों से साबित करेंगे ॥

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ ३० ॥

अर्थ—ज्ञान के रोकने वाले रजोगुण के कार्य जो विषय वासनादिक हैं उनका जिस से नाश होजाय उसे ध्यान कहते हैं ॥ यहां पर ध्यान शब्द से धारणाधान समाधि इन तीनों का ग्रहण है क्यों कि पातंजल में योग के आठ अंगों कोही विवेक साक्षात् में हेतु माना है इनके अवान्तर भेद भी उसी शास्त्र में विशेष मिलेंगे बाकी पांच साधनों को आचार्य आपही कहेंगे अब ध्यान की सिद्धि के लक्षणों को कहते हैं ॥

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥ ३१ ॥

जिसका ध्यान किया जावै उसके अतिरिक्त वृत्तियों के निरोध से अर्थात् सम्प्रज्ञात योग से उसकी सिद्धि जानी जाती है और ध्यान तब तक ही करना चाहिये जबतक कि ध्येय (जिसका ध्यान किया जाता है) के सिवाय दूसरे की तरफ को चित्त की वृत्ति न जावै ॥ अब ज्ञान के साधनों को कहते हैं ॥

धारणा सनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥ ३२ ॥

धारणा, आसन, और अपने कर्म से ध्यान की सिद्धि होती है। प्रथम धारणा का लक्षण कहते हैं।

निरोधश्छर्दि विधारणाभ्याम् ३३

अर्थ—छर्दि (वमन) और विधारण (त्याग) अर्थात् प्राण का पूरण रेचक और कुम्भक से निरोध (वश में रखना) को धारणा कहते हैं। यद्यपि

आचार्य ने धारणा शब्द का उच्चारण इस सूत्र में नहीं करा है तथापि अगाड़ी के दो सूत्रों में आसन और स्वकर्म का लक्षण किया है इसी परिशेष से धारणा शब्द का अध्यार इस सूत्र में कर लिया जाता है। जैसे कि पाणिनी मुनी नेभी लाघव के वास्ते लट् शेषेच इत्यादि सूत्र कहे हैं। अब आसन का लक्षण कहते हैं।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—स्थिर होने पर जो सुख का साधन हो उसी का नाम आसन है जैसे स्वस्ति का (पालकी) आदि स्थिर होनेपर सुख के साधन होते हैं तो उनको भी आसन कह सकते हैं किसी विशेष पदार्थ का नाम आसन नहीं है। अब स्वकर्म का लक्षण कहते हैं।

स्वाकर्म स्वश्रम विहितकर्मानुष्ठानम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो कर्म अपने आश्रम के वास्ते शास्त्रों ने प्रतिपादन करे हैं। उनके अनुष्ठान को स्वकर्म कहते हैं यहांपर कर्म शब्द से यम नियम और प्रत्याहार इनतीनों को समझना चाहिये क्योंकि इनका सब वर्णों के वास्ते समान सम्बन्ध है और इन यमादिकों को योग शास्त्र में योगका अंग तथा ज्ञानका साधन भी माना है। और भी ज्ञान प्राप्ति में उपाय हैं उनको भी कहेंगे।

प्रश्न—यम किसको कहते हैं।

उत्तर—अहिंसा (जीवका न मारना) सत्य अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य अपरिग्रह (विषयों से बचना) इनका नाम यम है।

प्रश्न—नियम किसको कहते हैं।

उत्तर—शुद्धि, सन्तुष्ट रहना, अपने कर्मों का अनुष्ठान करना, वेदादिक का पढना, ईश्वर भक्ति, इनको नियम कहते हैं।

प्रश्न—प्रत्याहार किसको कहते हैं।

उत्तर—जिसमें चित्त इंद्रियों सहित अपने विषय को त्यागकर ध्यानावस्थित हो जाय उसको प्रत्याहार कहते हैं।

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—संसारिक पदार्थों के विराग अथवा धारणादि पूर्वोक्त तीन साधनों के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त होता है यहां चकार का अर्थ पूर्वार्थ का समुच्चय और आरम्भित जो, ज्ञानान्मुक्तिः, इसविषय के प्रतिपादन की समाप्ति के वास्ते है इससे आगे बंधोविपर्ययात् ? इसपर विचार आरम्भ करते हैं।

विपर्ययभेदापञ्च ॥ ३७ ॥

अर्थ—अविद्या, अस्मित, राग, द्वेष, और अभिनिवेश यह पांच योग शास्त्र में कहे हुये बंधके हेतु विपर्यय (अज्ञान) के अवान्तर भेद हैं, अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में, नित्य, शुचि, सुख और आत्म बुद्धि करने का नाम अविद्या है। जिसमें आत्मा और अनात्माकी एकता मालूम होवे, जैसे शरीर के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं, ऐसी बुद्धिका होना अस्मिता है, राग और द्वेषके तो लक्षण प्रसिद्ध ही हैं मृत्यु से डरने का नाम अभिनिवेश है यह पांचों बातें बद्ध जीव में होती हैं और इनका होनाही बंधन का हेतु है अब बुद्धि को बिगाड़ने वाली अशक्तियों के भेद कहते हैं।

अशक्तिरष्टाविंशतिधातु ॥ ३८ ॥

अर्थ—अशक्ति अट्ठाईस प्रकारकीहै वहप्रकार दिखातेहैं। ग्यारहइंद्रियों के निघात होजानेसे

ग्यारह प्रकार, की और नौ प्रकारकी तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्ध इनसे बुद्धि का प्रतिकूल होना यह सब मिलकर अट्ठाईस प्रकार की बुद्धि अशक्ति बुद्धि में होती है। इंद्रियों का विघात इस तरह होता है कि कान से सुनाई न देना त्वचा में कोढका होजाना आखों से अंधा होजाना इत्यादि ग्यारह इंद्रियों का विनय होना तथा तुष्टि आदि के जो भेद जिस प्रकार कहे हैं उनसे बुद्धि का विपरीत होना अशक्ति का लक्षण है। जब तक बुद्धि में अशक्ति नहीं होती तब तक अज्ञान भी नहीं होता अब तुष्टि के भेद कहते हैं।

तुष्टिर्नवधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—तुष्टि नौ प्रकार की है। इसका अलैहदा २ खुलांशा आचार्य अगाडी के सूत्रों में आपही करेंगे। अतः यहां व्याख्या लिखना व्यर्थ है।

सिद्धिरष्टधा ॥ ४० ॥

अर्थ—सिद्धि आठ प्रकार की है। इस का खुलासा भी आगाडी लिखेंगे। अब पूर्व कहे हुये विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के भेदों की व्याख्या अगाडी के चार सूत्रों में करेंगे।

अवान्तर भेदापूर्ववत्॥ ४१ ॥

अर्थ—विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान के अवान्तर भेद जो समान्य रीति से पूर्वाचार्यों ने करे हैं उनको उसही तरह समझना चाहिये यहां विस्तार (फैलाव) के भय से नहीं कहे गये अविद्यादिकों के जितने भेद हैं उनकी विशेष व्याख्या विस्तार के भय से नहीं करी यदि कहे जावें तो कारिका कार ने अविद्या के बासठ भेद माने हैं जिस में आठ २ प्रकार का तम और मोह, दश प्रकार का महामोह, अठारह प्रकार का तामिश्र, और अठारह ही प्रकार का अन्धतामिश्र, यह सब मिलकर बासठ प्रकार के हुये यदि इतने प्रकार के भेदों की जुदी २ व्याख्या की जावै तो एक बडा जंगी दफ्तर भरने को चाहिये लेकिन हमारी सलाह से इतने भेद मानना और उनकी व्याख्या करना सिर्फ झगडा ही है।

एव मितरस्याः ॥ ४२ ॥

इसही प्रकार अशक्ति के भेद भी पूर्वाचार्यों के कथनानुसार समझने चाहिये।

अध्यात्मिकादिभेदान्नव धातुष्टिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य, यह चार प्रकार के भेद होने से अध्यात्मिक तुष्टि कहलाते हैं और पांच प्रकार की वाह्य विषयों से उपराम को प्राप्त होने वाली तुष्टि है। एवं अध्यात्मिकादि भेदों के होने से नौ प्रकार की तुष्टि हुई इसका खुलासा इसतरह से है कि जो कुछ दीखता है वह सब प्रकृति का ही परिणाम है और उसको प्रकृति ही करतीहै मैं कूटस्थहूं ऐसीप्रकृतिके संबंधमें बुद्धि होने का नाम प्रकृति तुष्टि है। और जो सन्यासी होकर आश्रम ग्रहण रूपी उपादान से तुष्टि मानते हैं वह उपादान तुष्टि है। जो सन्यासी होकर भी समाधि आदि अनुष्ठानों से बहुत समय में तुष्टि मानते हैं उसे काल तुष्टि कहते हैं। और उसके बाद धर्म मेघ

समाधि में जो तुष्टि होती है उसे भाग्य तुष्टि कहते हैं। बाह्य पांच प्रकार की तुष्टि इस तरह है कि माला, चंदन वनिता, (स्त्री) आदि के प्राप्त करने में दुःख पैदा होगा ऐसा विचार कर उनका त्याग करदेना यह एक प्रकार की तुष्टि हुई। पैदा किये हुये धन को या तो चोर चुरालेजायंगे या राजा दंड देकर छीन लेगा तो बडा भारी दुःख पैदा होगा ऐसा विचार कर जो त्याग है यह दूसरी तुष्टि है। यह धनादिक बडे परिश्रम से संचय किया गया है इसकी रक्षा करनी योग्य है व्यर्थ न खोना चाहिये ऐसा विचार करके जो विषय वासना से बचना है इसको तीसरी तुष्टि कहते हैं। भोग के अभ्यास से काम की वृद्धि होती है और विष के न प्राप्त होने से कामियों को बडा भारी कष्ट होता है ऐसा विचार कर जो भोगों से बचना है यह चौथी तुष्टि का लक्षण है। हिंसा वा दोषोंके देखने से उपराम होजाना पांचवी तुष्टि का लक्षणहै। यह पांच प्रकार की तुष्टि यों की व्याख्या सिर्फ उप लक्षण मात्र की गई है। इनकी अवधि यहीं तक न समझकर इसी प्रकार की और भी तुष्टियां इनहीं पांच प्रकार की तुष्टियों में परिगणित (गिननी) करलेनी चाहिये ॥

ऊहादिभिः सिद्धिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—ऊह, शब्द, अध्ययन,और तीनों प्रकार के दुःखों का नाश होना इसतरह आठ प्रकार कीसिद्धि होती है। विना किसी के उपदेश के पूर्व जन्म के संस्कारों से तत्व को अपने आप विचारनें का नाम ऊह है। दूसरे से सुनकर वा अपने आप शास्त्र को विचारकर जो ज्ञान पैदा कियाजाता है उस का नाम शब्द है। शिष्य और आचार्यभाव से शास्त्र पाकर ज्ञानवान् होने को अध्ययन कहते हैं। यदि कोई दयावान् अपने स्थान परही उपदेश देने आया हो और उसही उपदेश से ज्ञान होगया हो इसकोही सुहृत्प्राप्ति कहते है। और धन आदि देकर ज्ञान का जो प्राप्त करना है इसको दान कहते हैं। और पूर्वोक्त आध्यात्मिक, आधि भौतिक, आधि दैविक तीन प्रकार के दुःखों के विवरण को शास्त्र के आदि में हम बर्णन करचुके हैं ॥

प्रश्न—ऊह आदिकों से ही सिद्धि क्यों मानिजाती है क्योंकि बहुतेरे मनुष्यतो मंत्रों से अणिमादिक आठ सिद्धि मानतेहैं तबक्या उनका सिद्धान्त झूंठा होसक्ता है ॥

उत्तर—नेतरादितर हानेनविना ॥ ४५ ॥

अर्थ—ऊहादि पंचकके विना मंत्र आदिकों से तत्व की सिद्धि प्राप्त नहीं होती क्यों कि वह सिद्धि इतर अर्थात् विपर्यय ज्ञानके विना भी प्राप्तहोती है अतएव सांसारिकी सिद्धि होने के कारण वह पारमार्थिकी नहीं कहलासक्ती ॥ बस यहां तक समाष्टि सर्ग और प्रत्यय सर्ग समाप्त होगया इससे आगे व्यक्ति भेदः कर्मविशेषात् इससंक्षेप से कहे हुये सूत्रको विशेष रूपसे प्रति पादन करेंगे ॥

दैवादि प्रभेदा ॥ ४६ ॥

अर्थ—दैव आदि सृष्टि के प्रभेद हैं अर्थात् एक दैवी सृष्टि, दूसरी मनुष्यों की सृष्टि है। यहांपर देव और मनुष्यों के कहने से यह न समझना चाहिये कि देवता जैसे

और साधारण मनुष्य मानते हैं वही हैं किन्तु विद्वानों का नामदेव है और जो झूंठ बोलते हैं वह मनुष्य है। किन्नर, गंधर्व, पिशाच, आदि यह सब मनुष्यों कोही भेद हैं जैसा कि श्रुतियांकहती हैं।

सत्यं वैदेवा अनृतं मनुष्यः, विद्वा ँ सोहि देवः, इत्यादि और महर्षि कपिलजी को भी यही बात अभीष्ट (मंजूर) है जैसा कि उन्होंने आगे ५३ वें सूत्र में प्रतिपादन कियाहै

अब सृष्टि का प्रयोग कहते हैं ॥

आब्रह्मस्तम्भपर्यन्त तत् कृते-सृष्टिराविवेकात् ॥ ४७॥

अर्थ—ब्राह्मणों को लेकर स्थावरादि तक जितनी सृष्टि है वह सब पुरुष कही वास्ते है और उसेभी विवेक के होने तकही सृष्टि रहती है बादको मुक्ति होने से छूट जाती है। अब तीन सूत्रों से सृष्टि के विभाग को कहते हैं ॥

ऊर्ध्वंसत्वविशाला ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो सृष्टि ऊपर है वह सत्व प्रधान है यहांपर ऊपर कहने से आचार्य का प्रयोजन भारत बर्षसे ऊपर का देश त्रिविषयके कहने से प्रयोजन है जिस त्रिविषय का अपभ्रंस इन दोनों तिब्बत रहगया है वहां के लोग अवतक सात्वि की वृत्ति वाले हैं ॥

तमोविशालामूलतः ॥ ४९॥

अर्थ—और जो नीचे के लोक हैं। वह तमः प्रधान हैं अर्थात् अमेरिका के आदि देश के मनुष्य बहुधा तमोगुण युक्त होते हैं।

मध्येरजो विशाला ॥ ५० ॥

अर्थ—और बीच में जो लोक हैं वह रजोगुण प्रधान हैं। बीच का लोक यही भारत वर्ष है, और सब द्वीप इसके सामने कोई ऊंचे हैं और कोई नीचे हैं इस में रहने वाले मनुष्य रजो गुण से युक्त हैं इस बात को सब ही जानते हैं।

प्रश्न—प्रकृति तो एक ही है लेकिन सृष्टि अनेक २ तरह की क्यों होती है।

उत्तर—कर्मवैचित्र्यात्प्रधान चेष्टागर्भदासवत् ॥ ५१ ॥

अर्थ—यह सब प्रधान अर्थात् प्रकृति की चेष्टा कर्मों की विचित्रता से होती है इसमें दृष्टान्त भी है जैसे कि कोई दासी अपने स्वामी के वास्ते नाना प्रकार की चेष्टा (टैल) करती है वैसे ही उसका गर्भ भी अपने स्वामी के प्रशन्नार्थ नाना प्रकार की चेष्टा करने लगता है अतएव जो जैसा कर्म करैगा उस की सृष्टि भी वैसा ही कर्म करैगी इस में कोई सन्देह नहीं है।

प्रश्न—ऊर्ध्व की सृष्टि सत्व गुण प्रधान है तो मनुष्य उस ही से कृतार्थ होसकता है फिर मोक्ष से क्या करना है।

उत्तर—आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तर योनियोगाद्धेयः ॥ ५२॥

अर्थ—उन ऊपर के और नीचे के देशों में भी आवृत्ति योग रहता है अर्थात् जब वहां गये तब सात्विकी वृत्ति रही और यहां रहे तब वोही रजोगुण फिर आगया और वहां भी छोटी बड़ी जातियां होती हैं उन में जन्म होने से ठीक २ सत्व नहीं रहता इस वास्ते ऐसा विचार करना सब तरह छोड़ने योग्य है। और भी इस पक्ष को पुष्ट करते हैं।

समानंजरामरणादिजंदुःखम् ५३

अर्थ—इस देश में और त्रिविष्टय (ऊर्ध्व देश) में जरा (बुढ़ापा) और मरण आदि का समान (बराबर) दुःख है नतो यहां और न वहां किसी तरहां का कोई भी भेद नहीं है इस वास्ते उस देश के प्राप्त होने से मुक्ति प्राप्ति का उपाय छोड देना ऐसाविचार सर्वदा भूल है ऐसे विचार को तो छोड देना ही चाहिये।

प्रश्न—जिस से यह शरीर पैदा हुआ है यदि उसी में लय होजाय तब क्या मुक्ति नहीं मानी जायगी।

उ०—न कारणलयात् कृतकृत्यतामग्नवदुत्थानात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—कारण में लय होजाने से भी कृत कृत्यता नहीं होती क्योंकि जैसे मनुष्य जब जल में डूबता है तो कभी तो ऊपर को आता है और कभी नीचे को वैठ जाता है इसही तरह जो मनुष्य कारण में लय होगया है कभी जन्म को प्राप्त होता है कभी मरण को प्राप्त होता है और ऐसा कहने से आचार्य का यह मतलब नहीं है कि मुक्त जीव कभी जन्म को नहीं प्राप्त होता क्योंकि प्रथम तो आचार्य जीव को नित्य मानते हैं तब उसका कारण ही नहीं तो लय किसमें होगा। दूसरे जो डूबे हुये का दृष्टान्त दिया अशान्ति का पोषक दिया तथा इसमें पराधीनता दिखाई किन्तु मुक्त जीवन तो आशान्त है न पराये आधीन है। तीसरे यहां पर सृष्टि का प्रसंग चला आता है किन्तु जीविका विषय भी नहीं है।

प्रश्न—जबकि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं तो प्रकृति ही में सृष्टि का कर्तृत्व क्यों माना जाता है।

उ०—अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों अकार्य अर्थात् नित्य हैं तथापि प्रकृति को ही सृष्टि करने का योग है क्योंकि जो पर बश होगा वही तो कार्य को करैगा इस बिचार से प्रकृति ही में परबशता दीखती है।

प्रश्न—सहि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ५६

अर्थ—यदि प्रकृति रूपी पदार्थ को ही सर्वज्ञ और सर्बवित् (बिद सत्ता याम् इस धातु का प्रयोग है) सर्ब शक्तिमान् मान लियाजाय तो क्या हानि है।

उ०—ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा ५७

अर्थ—इस तरह वेदके प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि सिद्ध। प्रकृति में सर्वज्ञत्वादि गुण किसी सूरत नहीं होसकते हैं सर्वज्ञत्वादि गुण तो ईश्वर ही में हैं।

प्रश्न—प्रकृतिने सृष्टि को क्यों पैदाकिया।

उ०—प्रधान सृष्टि परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुम वहनवत् ॥ ५८ ॥

अर्थ—प्रधान जो सृष्टि है उसकी सृष्टि दूसरे के वास्ते है। क्योंकि प्रकृति भोग नहीं कर सकती दृष्टान्त जैसे कि ऊंट केशर को अपने ऊपर लादकर पराये वास्ते लेजाता है लेकिन उस केशर से अपना कुछ ताल्लुक नहीं रखता इसही प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरे के वास्ते है।

प्रश्न—ऊंट का जो दृष्टान्त दिया गया सो ऊंट चेतन है और चेतन की चेष्टा दूसरे

के वास्ते हो सकती है लेकिन जड़ की नहीं होसकती।

उ०—अचेतनत्वेपिक्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥ ५९ ॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति अचेतन है तथापि उसकी प्रवृत्ति दूसरे के वास्ते है, दृष्टान्त जैसे कि दूध जड़ है लेकिन उसकी प्रवृत्ति चैतन्य बछडा आदि के वास्ते है और भी दृष्टान्त है।

कर्म वद् दृष्टेर्वाकालादेः ६० ॥

अर्थ—जैसे कि खेती के करने में बीज बोया जाता है वह अपनी ऋतु के समय में वृक्ष रूप को धारण कर दूसरों के उपकारार्थ फल देता है इस प्रकार प्रकृति की सृष्टि भी दूसरों के वास्ते है ॥

(प्रश्न) ऊंट तो पिटने के डर से केशर को लादकर लेजाता है लेकिन प्रकृतिको तो किसी का डरनहीं है ॥

उ०—स्वाभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जैसे चतुर सेवक अपने स्वामी का सब काम करता है और उसमें अपने स्वार्थ (मतलब अपना) का कुछ भी ताल्लुक नहीं रखता इसी तरह प्रकृति भी अपने आप सृष्टि करती है पुरुष के भय प्रेरणादिक की अपेक्षा नहीं करती

कर्माकृष्टेर्वानादितः ॥ ६२ ॥

अर्थ—अथवा कर्मोंके अनादि प्रवाह के वशहोकर प्रकृति सृष्टि को करती है। अब इससे आगे सृष्टि की निवृत्ति के कारणों को कहेंगे ॥

विविक्तबोधात्सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥ ६३ ॥

अर्थ—जब विविक्त बोध अर्थात् एकान्त ज्ञान होजाता है तब प्रकृति की सृष्टि निवृत्त होजाती है जैसे रसोइया भोजन बनाकर निश्चिन्त होजाताहै फिर उसको कोईकामबाकी नहीं रहता इसही तरह प्रकृति भी विवेक (ज्ञान) को पैदा करके अपनी सृष्टि को निवृत करदेती है ॥

अशय यह है कि ज्ञान होने स संसार छूटजाता है ॥

प्रश्न—जबकि एकको ज्ञानहुआ और उससे सृष्टि की निवृत्ति होगईतो फिर बाकी जीव बद्ध क्यों रहते हैं क्योंकि सृष्टि की निवृत्ति में बंधन न रहना चाहिये ॥

उ०—इतर इतर वद्दोषात् ६४ ॥

अर्थ—जो विवेक (ज्ञान) रहित है वह बद्ध के बराबर है क्योंकि अज्ञान के दोष से बंधा रहनाही पडता है। अब सृष्टि निवृत्ति का फल कहते है ॥

द्वयोरेकतरस्यवौदासीन्यमपवर्गः ६५

अर्थ—प्रकृत्ति और पुरुष इन दोनों की आपस में उदासीनता का होनाहीं मुक्ति कहलाता है। दूसरा यहभी अर्थ होसकता है। ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनों मे से एक के वास्ते प्रकृति की उदासीनताही को अपवर्ग मुक्ति कहते हैं ॥

प्रश्न—जबकि विवेक के कारण प्रकृति पुरुष को मुक्त करदेती है तो और भी पुरुष विवेक से मुक्त होजायंगे ऐसा विचारकर प्रकृति विवेक के डरके मारे सृष्टि करने से विरक्त क्यों नहीं होती ॥

उ०—अन्यसृष्ट्युपरागेऽपिनविरज्यतेप्रवुद्धरज्जुतत्वस्यैवोरगः ६६

अर्थ—यद्यपि प्रकृत्ति एक मनुष्य के ज्ञानी होने से उस के वास्ते सृष्टि से विमुख होजाती है तथापि दूसरे अज्ञानीके वास्ते प्रकृति सृष्टि करने से विमुख नहीं होती दृष्टांत जैसेकि किसी मनुष्य ने रस्सी देखी उस रस्सी को देखकर उस को प्रथम सांप की भ्रान्ति हुई और भय मालूम पडा बाद को जब उसने विचार करके देखा तो उस को यथार्थ ज्ञान होगया कियह सांप नहीं है किन्तु रस्सी है तब उसको आनन्द होगया तब वह रस्सी उस ज्ञानीको फिर भय नहीं देती किन्तु जो अज्ञानी है उसे तो सांप की भ्रांति से भय देतीहीहै इसही प्रकार प्रकृति की भी व्यवस्था है कि जो विवेकी है उसके वास्ते इसकी सृष्टि नही है किन्तु अविवेकी के वास्ते है ॥

कर्मनिमित्तयोगाच्च ॥ ६७ ॥

अर्थ—सृष्टि के प्रवाह में जो कर्म हेतु हैं उनके कारण भी प्रकृति सृष्टि करनें से विमुख नहीं होती और मुक्त मनुष्य के कर्म छूट जाते हैं। इस सबब उसके वास्ते सृष्टि शान्त होजाती है।

प्रश्न—जब सब मनुष्य समान और निरपेक्ष हैं तो किसी के वास्ते प्रकृति सृष्टि की निवृत्ति और किसी के वास्ते प्रवृति हो इस में क्या नियम है।

उत्तर—कर्म का प्रवाह ही इसमें नियम है।

प्रश्न—यह उत्तर ठीक नहीं क्योंकि न मालूम किस मनुष्य का कौनसा कर्म है यह भी कोई निश्चय करा हुआ नियम नहीं है।

उत्तर—नैर पेक्ष्येपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—यद्यपि सब पुरुष निर पेक्ष हैं अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता तथापि यह मेरा स्वामी है मैं इसका सेवक हूं इसतरह प्रकृति के उपकार में (सृष्टिकरने में) अविवेक ही निमित्त है। खुलासा यह है कि जब प्रकृति यह बात चाहती है कि यह मनुष्य मुक्त हो तबही उसको अपनी सृष्टि के भीतर रखकर अनेक प्रकार के कार्यों में लगा देती है और उनहीं कार्यों को करता हुआ वह मनुष्य किसी न किसी जन्म में विवेकी (ज्ञानी) होकर मुक्त होही जाता है इस वास्ते ही आचार्य ने सूत्र में उपकार शब्द को स्थापित किया है।

प्रश्न—जबकि प्रकति का स्वभाव वर्त्तमान मान लिया है तो ज्ञान के पैदा होनेपर क्यों निवृत्त हो जाती है क्योंकि जो जिसका स्वाभाविक धर्म है वह सब जगह एकसा रहना चाहिये।

उ०—नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥ ६९ ॥

अथ--जैसे नाच करने वाली का नाच करना स्वभाव है वह सब सभा को नाच दिखाती है और जब नाच करते करते उस के मनोरथ पूरे होजाते हैं तब वह नाच करने से निवृत्त हो जाती है इसही तरह यद्यपि प्रकृति का सृष्टि करना स्वभाव है परन्तु उस सृष्टि करने का जो प्रयोजन है वह विवेकके पैदा होने से निवृत्त हो जाता है अतएव उस से निवृत्त भी हो जाती है। अब मुक्ति से

पुनरागमन होता है या नहीं इसपर यहां इस कारण विचार किया जाता है कि इस ऊपर के सूत्र में विवेक के उपरान्त सृष्टि की निवृत्ति प्रतिपादन कर चुके। और इसपर यह सन्देह होता है कि जब प्रकृति यह समझ लेती होगी कि पुरुष को मेरे संयोग (मेल) से अनेक दुःखादि होते हैं अतएव फिर उस का संयोग किसी काल में न करना चाहिये तो इसी मतपर आचार्य विचार करते हैं।

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥ ७० ॥

अर्थ—पुरुष को मेरे संयोग से दुःख होगा, इस बात में प्रकृति अपना दोष जानती है तो भी क्या फिर उसका संयोग नहीं करती किन्तु जरूर करती है जैसे अच्छे वंश की पतिव्रता स्त्री से यदि कोई दोष होभी जाय और उससे स्वामीको कष्टभीपहुंचे तब क्या वह अपने पति के पास का जाना छोड देगी ऐसा नहीं होसकता जरूर जायगी? क्योंकि जो पति को त्यागती है तो उसका पतिव्रत धर्म नष्ट होता है ॥ और भी प्रकार से अन्य आचार्यों ने इस सूत्रका अर्थ कराहै कि जब प्रकृति अपना दोष जान लेती हैं तब लज्जा के वश हो फिर कभी पुरुष के पास नहीं जाती जैसे कि कुल वधू नहीं जाती, इस अर्थके करनेसे उनका मतलब यहहै कि मुक्ति से पुनरा वृत्ति नहीं होती परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि विज्ञान विक्षुने अपि शब्द का कुछभी आशय नहीं निकाला और न यह समझा कि जो अपने दोष से पतिको छोड बैठे वह कुल वधू कैसे होसकती है कुल वधू वोही होती है जो अपने दोष को स्वामी से माफ कराकर अपने स्वामी की सेवा में तत्पर (लगी) रहै किंतु अन्य टीका कारों ने इसदृष्टान्त के गूढ आशय को विना समझे जो लिख दिया है सो योग्य नहीं है अथवा (या) आचार को यही बात मंजूर थी कि मुक्ति से फिर नहीं लौटता तो इससे पहिले सूत्रमें इसवातको एक दृष्टान्तकेद्वारा (जरियेसे) प्रति पादन करहीचुकेथे फिर इस सूत्र को बनाकर पुनरुक्ति क्यों करते इसही ज्ञापक से सिद्ध है कि मुक्ति से फिर लौट आता है लेकिन इस पुनरुक्ति को अन्य आचार्यनहीं समझे। पुरुषका बंध वा मोक्ष किस से होता है इसवातका विचार करते हैं।

नैकान्ततोबंधमोक्षौपुरुषस्याविवेकादृते ॥ ७१ ॥

अर्थ—पुरुष को बंध मोक्ष स्वाभाविक नहीं है किंतु अविवेक ही के कारण हैं।

प्रकृते रांजस्यात् ससंगत्वात् पशुवत् ॥ ७२ ॥

अर्थ—जब विचार करते हैं तो मालूम पडताहै कि प्रकृति का संयोग पुरुष को रहता है उसी से पुरुष का बंध है, प्रकृति का संयोग छूटना ही मोक्ष है जैसे पशु रस्सी के संयोग से बंध जाता है और उसका संयोग छूट जाता है तब मुक्त होजाता है इसही तरह मनुष्यको भी जानना चाहिये।

प्रश्न—प्रकृति कौन से साधनों से बन्धन करती है और कैसे मुक्त करती है।

उत्तर—रूपैः सप्त भिरात्मानं वध्नाति प्रधानं कोशकारवद्वि मोचय त्येक रूपेण ॥ ७३ ॥

अर्थ–धर्म, वैराग्य ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवै-

राग्य, और अनैश्वर्य इन सात रूपों से प्रकृतिं पुरुष का बंधन करती है जैसे तलवार के म्यान बनाने वाले की कारीगरीसे तलवार ढकी रहती है इसही तरह प्रकृति से पुरुष को भी समझना चाहिये और वही प्रकृतिं ज्ञानसे आत्मा को दुःखों से मुक्त करदेतीहै।

प्रश्न—जब मुक्ति में हेतु ज्ञान कहा और धर्म्मादिक सब बंधन के हेतु कहे तो धर्म में क्यों किसी की प्रवृत्ति होगी और क्यों ध्यानादि के वास्ते उपाय किया जावेगा।

उत्तर—निमित्तत्वम विवेकस्य न दृष्टहानिः ॥ ७४ ॥

अर्थ—मुक्ति के नहोंने में अज्ञान ही (अविवेक) निमित्त है इस वास्ते उसकी निवृत्ति ही के वास्ते यत्न करना चाहिये और उस यत्न में धर्म्मानुष्ठान आदि चित्त शोधक कर्म भी परिगणित हैं अत: उनकी हानि नहीं होसकती क्योंकि बिना धर्म ध्यान आदि किये कोई भी ज्ञानवान् होही नहीं सकता। विवेक कैसे होता है उसका उपाय कहते हैं।

तत्त्वाभ्यासान्नेतिनेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ॥ ७५ ॥

अर्थ—देह आत्मा नहीं है, पुत्र आत्मा नहीं है, इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं, मन आत्मा नहीं है। इस प्रकार नेति नेति करके त्याग से और तत्त्वाभयास करने से विवेक की सिद्धि होजाती है श्रुति भी इसही आशय को कहती है। अर्थात् आदेशो नेति नेतीति त्यागेनै के अमृतत्वमानशुः।

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ७६

अर्थ—कोई मूर्ख बुद्धि वाले होते हैं कोई बिलक्षण (श्रेष्ठ) बुद्धि वाले होते हैं। इस कारण एक ही जन्म में सब को विवेक (ज्ञान) होजावे यह नियम नहीं है किन्तु श्रेष्ठ अधिकारी एक जन्म में भी बिवेकी होसकता है।

वाधितानुवृत्यामध्यविवेकतोऽप्युप भोगः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जिसको विवेक साक्षात्कार हो भी गया है उसको भी कर्मों का भोग भोगना होगा ही क्योंकि यद्यपि कर्म एक बार बाधित भी कर दिये जाते हैं तथापि उनकी अनुवृत्ति होती है। प्रारब्ध आदि संज्ञा वाले कर्म सर्वथा विनाश को प्राप्त नहीं होते।

जीवन्मुक्तश्च ॥ ७८ ॥

अर्थ—जब बिवक होजाता है तब इस शरीर की मौजूदगी में भी मुक्त होसकता है उसको ही जीवन्मुक्त कहते हैं। अब जीवन्मुक्त होने का उपाय भी कहते हैं।

उपदेश्योप देष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जब शिष्य बनकर गुरु के मुखसे शास्त्रों को पढैगा और विचार करनेसे बिबेक की उत्पत्ति होजावैगी तो जीवन्मुक्त होना कुछ मुसकिल वात नहीं है। बिना गुरुद्वारा उपदेश के जीवन्मुक्त नहीं होसकता। इसही विषय को श्रुति भी प्रति पादन करती है।

श्रुतिश्च ॥ ८० ॥

तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै सविद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्वि

ताप येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाचतान्तत्व तो ब्रह्म विद्याम्।

अर्थ—जबकि जिज्ञासु पुरुष को सत्य के जानने की अभिलाषाहो इस समय समित्याणि अर्थात् पुष्पादिक हाथ में लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ट (वेद के जानने) वाले गुरु की शरणले फिर उसमहात्मा गुरुको चाहिये कि ऐसे शिष्य को धोके में न डाले और वह उपदेश करने चाहिये कि जिस सूरत वह शिष्य सत्य मार्ग को प्राप्त हो जाय।

प्रश्न—ब्रह्मनिष्ठ गुरू की ही शरण क्यों लेय और भी तो बहुतेरे होते हैं।

इतरथान्धपरंपरा ॥ ८१ ॥

यदि ज्ञानवान् ब्रह्मनिष्ठ गुरू से ज्ञान न लिया जावे तो क्या मूर्खों से लिया जायगा तो अन्धपरम्परा गिनी जायगी जैसे एक अंधा कुये में गिरा तो सब ही अंधे कुये में गिर पड़े इसही प्रकार मूर्ख की शरण लेने से सब मूर्ख रहजाते हैं।

प्रश्न—जब ज्ञान से कर्म नाश होजाते हैं तो फिर शरीर क्यों रहता है और उसकी जीवन्मुक्त संज्ञा कैसे होती है।

उत्तर—चक्र भ्रमण वद्धृत शरीरः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जैसे कुमार का चाक घडा भोलुआ इत्यादिक के बनाने के समय डंडे से चलाया जाता है और कुमार बर्तनों को बना कर उतार भी लेता है लेकिन उस चलाने का ऐसा बेग होता है कि पीछे बहुत देर तक वह चाक घूमता रहता है इसही तरह ज्ञान के पैदा होते ही यद्यपि नये कर्म पैदा नहीं होते तथापि प्रारब्ध कर्मों के बेग से शरीरको धारण करेहुये जीवन्मुक्त रहताहै।

प्रश्न—यद्यपि चक्र के घुमने में दण्ड की कोई ताडना उस समय नहीं है तोभी वह पहिली ताडना के कारण से चलता है किन्तु जब जीवन्मुक्त के सब रागादि नाश होजाते हैं तो वह उपभोग किसके सहारेसे कर्ताहै।

संस्कार लेशातस्तत्सिद्धिः८३

अर्थ—रागादिकों के संस्कार काभी लेश रहता है उसी के सहारे से उपभोग की सिद्धि जीवन्मुक्त को होजातीहै वास्तविक (असली) राग जीवन्मुक्त को नहीं रहते। यह सब जीवन्मुक्त के विषय में कहा। अब बिना देह की मुक्ति के वास्ते अपना परम सिद्धान्त कह कर अध्याय को समाप्त करते हैं।

विवेकान्नि शेष दुःख निवृत्तौ कृत कृत्यता नेतरान्नेतरात्।८४।

अर्थ—विवेक ही से सब दुःख दूर होतेहैं तब जीव कृत कृत्य होता है दूसरे से नहीं होता, नहीं होता पुन रुक्ति अर्थात् नेतरात् नेतरात् इसका दोदफे कहना पक्षकी पुष्टि और अध्याय की समाप्तिके वास्ते है इति सांख्य दर्शने तृती योध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्थो ऽध्यायः

इस अध्याय में विवेक ज्ञान के साधनों का वर्णन करेंगे

राजपुत्रवत्तत्वोपदेशात् ॥१॥

अर्थ—पूर्व सूत्र से यहां विवेक की अनुवृत्ति आती है। राजाके पुत्रके समान तत्वोपदेश होने से विवेक होता है। यहां

यह कथा है कि कोई राजा का पुत्र गंड माला रोगसे युक्त पैदा हुआथा इस कारण वह सहर में से निकाल दिया गया और उसको किसी सवर (भील) ने पाल लिया जबवह बडा होगया तब अपने को भी शवर माननें लगा कालान्तर में (कुछ दिनों के बाद) उस राजपुत्र को जीता हुआ देखकर कोई वृद्धमंत्री बोला हेवत्स (पुत्र) तू शवर नहीं है किन्तु राज पुत्र है ऐसे वाक्यों को सुन कर वह राजपुत्र शीघ्रही उस शवर भाव के मान को त्याग कर तात्विक जो राज भावको धारण करने लगा कि मैं तोराजाहूं, इस प्रकार चिर वद्ध जीव भी अपनें को वद्ध मानता है और जब तत्वो पदेश से उसको ईश्वरी ज्ञान होता है तब विवेको त्पत्तिसे उसको मुक्ति प्राप्त होती है। इस सूत्र के अर्थ से कोई २ टीका कार ब्रह्मास्मि वाला सिद्धान्त निकालते हैं कि जीव पहिले ब्रह्म था इस कारण मुक्त था किन्तु अज्ञानसे बंध गया है जब तत्वो पदेश हुआ तो विवेक होने से मुक्ति होगई। लेकिन ऐसा मानना ठीक नहीं है क्यौं कि पहिले तो ग्रन्थ के आरम्भ में आचार्य नें इस बात का खंडन कर दिया है। दूसरे सूत्र में जो राज पुत्र ऐसा शब्द कहा है उससे साफ मालूम होता है कि आचार्य जीव और ब्रह्म में भेद मानते हैं इस वास्ते जीव को छोटामान कर राज पुत्रवत् ऐसा कहा है नहीं तो राजवत् ऐसाही कह देते किन्तु दो अक्षरों का जादे कहना इसही आशय से है कि कोई एक ब्रह्म के रूपान्तर का अर्थ न समझले।

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि २

अर्थ—एक के वास्ते जो उपदेश किया जाता है उससे दूसरा भी मुक्त होजाता है जैसे कि एक समय श्रीकृष्ण जी अर्जुन को उपदेश कर रहेथे लेकिन एक पिशाच भी सुन रहाथा वह पिशाच उस उपदेश को सुनकर उसके अनुष्ठान द्वारा मुक्ति को प्राप्त होगया।

आवृत्ति रस कृदुप देशात् ३

अर्थ—यदि एक दफै के उपदेश से विवेक प्राप्ति न होतो फिर उपदेश करना चाहिये क्योंकि छांदोग्य उपनिषद् में लिखा है कि श्वेत केतु के वास्ते आरुणि आदि मुनि योंने बार २ उपदेश कियाथा।

पितापुत्र वदुभयोर्दृष्टत्वात् ४

अर्थ—विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष दोनों ही दीखते हैं। दृष्टान्त, कोई मनुष्य अपनी गर्भिणी स्त्री को छोडकर परदेश गया था जब वह आया देखता क्या है कि पुत्र पैदा होकर पूरा जवान होगया लेकिन न तो वह पुत्र जानता है कि यही मेरा पिता है और न वह पुरुष जानता है कि यही मेरा पुत्र है तब उस स्त्री ने दोनों को प्रबोध (ज्ञान) कराया कि यह तेरा पिता है तू इसका पुत्र है इसही तरह विवेक भी प्रकृति और पुरुष का जतानेवाला है।

श्येनवत् सुख दुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥ ५ ॥

अर्थ—संसार का यह नियम है कि जब जब द्रव्य प्राप्ति होती है तब तब तो आनन्द

और जब वह द्रव्य चला जाता है तबही रंज होता है। दृष्टान्त कोई श्येन (बाज) किसी पक्षी का मांस लिये चला जाता था उसी समय किसी व्याध ने पकड लिया और उससे वह मांस छीन लिया तो वह बडा भारी दुःखी होने लगा अगर आपही उस मांस को त्याग देता तो क्यों दुःख भोगता इस कारण आपही विषय वासना इत्यादिक का त्याग करदेना चाहिये।

अहि निर्ल्वयिनीवत् ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे सांप पुरानी कैचली को छोड देता है इसही तरह मुमुक्ष (मोक्ष की इच्छा करने वाला) को विषय त्याग देने चाहिये।

छिन्नहस्तवद्वा ॥ ७ ॥

अर्थ-जैसेकिसी मनुष्य का हाथ कटके गिर पडता है फिर वह उस कठे हुये हाथ से किसी तरह का संबध. नहीं रखता इसही तरह विवेक प्राप्त होनेपर जो विषय वासना नाश होजाती हैं तब मुमुक्षू फिर उन विषय वासनाओं से कुछ संबंध नहीं रखता है॥

असाधनानु चिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मोक्षका साधन नहीं है लेकिन धर्म में गिनकर साधन बर्णन करदिया तो उसका जो विचार है सिर्फबंधन काहीकारण होगा न।कि मोक्ष कां। दृष्टांत। जैसे राजर्षि भरत यद्यपि मोक्ष की इच्छा करनेवाले थे लेकिन किसी ने अनाथ कोई हिरन का बच्चा महात्मा को पालने के वास्ते देदिया और उस अनाथ हिरनके बच्चे के पालन पोषण में महात्मा का विवेक प्राप्ति का समय नाश होगया और मुक्तिन हुई यद्यपि अनाथ का पालन राजा का धर्म था तथापि उस के पालन के विचार में महात्मा से विवेक साधन न होसका इस वास्ते बंध का हेतु होगया। इसही वास्ते कहते हैं धर्म कोई और वस्तु है और विवेक साधन कुछ और वस्तु हैं।

बहुभियोंगे विरोधोरागादिभिः कुमारी शंखवत् ॥ ९ ॥

अर्थ—विवेक साधन समय बहुतों का संग न करै किन्तु अकेले ही विवेक साधन को करै। क्यों कि बहुतों के साथ में राग द्वेषादिक की प्राप्ति होती है उस से साधन में विघ्न होने का भय प्राप्त होजाता है। दृष्टांत जैसे कि कोई कुमारी (कन्या) हाथों में चूडियां पहर रहीथी जब दूसरी कन्या के साथ उसका मेल हुआ तब आपस में धक्का लगकर चूडियों का झनकार शब्द हुआ इसही तरह यहां भी विचारना चाहिये कि बहुतों के संग मे विवेक साधन नही होसकता॥

द्वाभ्यामपि तथैव ॥ १० ॥

अर्थ—दो के साथ कभी विवेक साधन नहीं होसकता क्यों कि दो आदमियों में भी राग द्वेषादिक का होना मुमकिन है॥

निराशः सुखीपिंगलावत् ११

अर्थ—जो मनुष्य आशा को त्याग देता है वह सदैव पिंगला नाम वेश्या के समान सुख को प्राप्त होता है॥ दृष्टांत पिंगलानाम वालीएक वेश्या थी उसको जार मनुष्यों के आने का समय देखते देखते बहुत रात बीतगई लेकिन कोई विषयी उसके पास न आया तब वह जाकर सोरही बाद को फिर

उस वेश्या को ख्याल हुआ शायद अब कोई आदमी आवे ऐसा विचारकर वह वेश्या फिर उठ आई और बहुत समय तक फिर जागती रही लेकिन फिर भी कोई न आया तब उस वेश्या ने अपने चित्त में बडी गलानी मानी और कहा कि आशाहि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् आशा बडे दुःख देतीहै और नैराश्य में बडाभारी सुख है ऐसा विचारकर उस वेश्या ने उस दिन से लेके आशा त्याग दी और परम सुख को प्राप्त हुई इसही तरह जो भी मनुष्य आशा को त्यागेंगे वह भी परम सुख को प्राप्त होंगे ॥

अनारम्भेऽपिपरगृहे सुखीसर्प वत् ॥ १२ ॥

अर्थ-गृहादिकोंके विना बनाये भी पराये घर में सुख पूर्वक रह सकता है जैसे कि सांप पराये भट्टोंमें सुख पूर्वक वास करताहै

वहुशास्त्र गुरुपासनेऽपि साराद्दानं षट्पदवत् ॥ १३ ॥

अर्थ—बहुत से शास्त्रों से और गुरुओं से सार वस्तु जो विवेक का साधन है उस ही को लेना चाहिये जैसे कि भौरा फूलोंका जो सार मद है उसको ग्रहण करता है इस ही तरह सार का लेना योग्य है ।

इषुकारवन्नैक चित्तस्य समाधि हानिः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस का मन एकाग्र रहता हैं उसकी समाधी में किसी समय किसी प्रकार की भी हानि नहीं होसकती दृष्टान्त—कोई वाण बनाने वाला अपने थले पर बैठा हुआ बाण बना रहा था उसही समय उसकी बगल होकर फौज सहित राजा निकल गया लेकिन उसको न मालूम हुआ कौन चला गया और उसके काम में भी किसी प्रकार की बाधा न हुई क्योंकि उसका मन अपने काम में आसक्तथा ।

कृतनियम लङ्घना दानर्थक्यं लोकवत् ॥ १५ ॥

अर्थ—शौच, आचार, आदि जो नियम विवेक की सिद्धि के वास्ते माने गयेहैं । उन के लंघन से अर्थात् ठीक तौर से न पालने पर अनर्थ होता है और उन नियमों का फिर कुछ भी फल नहीं होता जैसे कि रोगी के वास्ते वैद्य ने परहेज बताया वास्ते नफे के लेकिन उसने कुछ परहेज न करा तब उस को कुछ फल अच्छा न होगा किन्तु रोग वृद्धि को ही प्राप्त होगा ।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ।१६।

अर्थ—तत्व ज्ञान के भूलने से दुःख प्राप्त होता है । दृष्टान्त, कोई राजा शिकार खेलने के वास्ते वन को गयाथा वहां पर वह राजा दिव्य स्वरूपा एक कन्या को देखता हुआ उस कन्या को देखकर राजा मोहित होगया और बोला कन्ये तुम कौन हो वह बोली राजन् में भेकराज (मेढकों के राजा) की कन्या हूं तब राजा अपनी स्त्री होने के वास्ते उस से प्रार्थना करने लगा तब वह कन्या बोली राजन् अगर मुझको जल का दर्शन हो जायगा तबही में तेरा साथ छोडदूंगी इस वास्ते मुझको जल का दर्शन न होना चाहिये यह मेरा नियम पालन करना होगा राजा ने प्रसन्न हो इस बात को ग्रहण कर लिया एक समय वह दोनों आनन्द में आशक्त थे तब

वह कन्या राजा से बोली कहीं जल है तब राजा उस बात को भूल कर उसको जल दिखा देते हुये जलके दर्शन समय ही वह कन्या उस रूप को छोड कर जल में प्रवेश कर जातीहुई । तब राजा ने दुःखित होकर उस कन्या को बहुत, जल के अन्दर देखा लेकिन वह फिर न प्राप्त हुई जैसे कि यह राजा उस तत्व बात को भूल कर दुःख को प्राप्त हुये इसही तरह मनुष्य भी तत्व ज्ञान के भूलने से दुःख को प्राप्त होता है ।

नोपदेशश्रवणोऽपि कृतकृत्यतापरामर्शादृते विरोचनवत्॥१७॥

अर्थ—उपदेशके सुननेही मात्र से कृत कृत्यता नहीं होती जबतक कि उसका विचार न किया जाय । दृष्टान्त, बृहस्पति जीने बिरोचन और इन्द्र इन दोनों को सत्योपदेश कियाथा इन्द्रने इस उपदेशको सुनकर विचारा भी लेकिन विरोचन ने न विचारा किन्तु कानही पवित्र करे ।

दृष्टस्तयो रिन्द्रस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—देखने में आता है कि उस श्रवण से इन्द्रकोही विवेक ज्ञान हुआ वि रोचन को नहीं क्योंकि इन्द्र ने तो उस उपदेश का विचार कियाथा ।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वासिद्धिर्वहुकालात् तद्वत् १९

अर्थ—गुरु से नम्ररहना हमेशह गुरु की सेवा करना, ब्रह्मचर्यको धारण करना, और वेद पढने के वास्ते गुरु के पास जाना इनहीं कर्मोंके करनेसे विवेक की सिद्धि होजाती है जैसे कि इन्द्र को हुईथी ।

नकालनियमो बामदेववत् २०

अर्थ—इतने दिनों में विवेक पैदा होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है । क्योंकि बाम देव नामवाले ऋषि को पूर्व जन्मके संस्कारो के कारण थोडे ही दिनों में विवेक पैदा होगया था ।

अध्यस्तरूपो पासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव २१

अर्थ—शरीरही आत्मा है, वा मनही आत्मा है इस प्रकार का अध्याहार करके जो उपासना करी जाती है उसके परंपरा संबन्ध से विवेक होता है जैसे पहिले पुत्र को आत्मा माना बाद को शरीर को उस के बाद इंद्रियों को इसही प्रकार करते करते आत्मविवेक होजाता है जैसे कि यज्ञ करने वालों की परम्परा संबन्ध से मुक्ति होती है । क्योंकि यज्ञ करनेसे चित्त शुद्धि होती है और चित्त शुद्धि से बासनाओं की न्यूनता आदि परम्परा से मुक्ति होती है इसही प्रकार अध्यस्त उपासना से भी जानना चाहिये ।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पंचाग्नि योगतो जन्मश्रुतेः ॥ २२ ॥

अर्थ—यदि पंचाग्नि योग से इतर अर्थात् शांति का लाभ भी करलिया तो भी कर्मों की बासना बलवती बनी रहैगी अतएव वह कर्म फिर भी उत्तरोत्तर उत्पन्न होते जायंगे इसही बात को श्रुतियां भी प्रतिपादन करती हैं वह श्रुतियां

छान्दोग्य उपनिषद् के पंचम प्रपाठक के आदि में हैं यहां विस्तार के भयसे उन को नहीं लिखा है ।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादनं हंसक्षीरवत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो विरक्त है अर्थात् जिसको बिवेक होगया है उसको हेय (छोडने योग्य) का तो त्याग और उपादेय का (ग्रहण करने योग्य का) ग्रहण करना चाहिये । हेय अर्थात् छोडने लायक संसार है उपादेय, ग्रहण करने लायक मुक्ति है । जैसे कि हंस जल को छोडकर दूधपीलेते हैं । इसही तरहविरक्त को भी करना चाहिये ।

लब्धातिशययोगाद्वातद्वत् २४

अर्थ—अथवा जो ज्ञान की पराकाष्टा (हद) को प्राप्त होगया है यदि उसका संग होजाय तौभी पहिले कहे हुये हंस की समान बिवेकी होसकता है ।

नकाम चारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥ २५ ॥

अर्थ—राग के नाश होजाने पर भी काम चारित्व (इच्छाधीन) न होना चाहिये कारण यह है कि फिर बंधन में पडने का भय प्राप्त होसकता है । दृष्टान्त । जैसे कि कोई तोता दाने के लालच में होकर बंधन में पडगया था जब उसको मौकामिला तब वह उस बंधन में से भाग गया फिर उस बंधन के धोरे भी भय के मारे नहीं आता है क्योंकि अगर इसके पास जाऊंगा तो फिर बंधन को प्राप्त होऊंगा । और भी पुष्टि करेंगे इस ही पक्ष की ।

गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ॥२६॥

अर्थ—जब काम चारी रहेगा तब उस के गुणों में किसी की प्रीति होजायगी तौभी उस बिवेकी को फिर बद्ध होना पडेगा जैसे कि मनोहर भाषण (बोलना) आदि गुणों से तोते का बंधन हो जाता है ।

नभोगाद्रागशांन्तिर्मुनिवत् ॥२७

अर्थ—भोगों को पूर्ण रूप से भोगने से भी राग की शान्ति नहीं होती जैसे सौभरि नाम वाले मुनि ने भोगों को खूब अच्छी तरह भोगा लेकिन उससे कुछ भी शान्ति न हुई । और मृत्यु के समय उन महात्मा ने ऐसा कहा भी है कि ।

आमृत्युतो नैवमनोरथानामन्तोऽस्तिविज्ञातमिदंमयाद्य । मनोरथासक्तिपरस्यचित्तं न जायते वैपरमार्थसंगी ।

अर्थ—आज मुझ को इस बात का पूरा पूरा निश्चय होगया कि मृत्युतक मनोरथों का अन्त नहीं है और जो चित्त मनोरथों में लगा हुआ है उसमें विज्ञान का उदय कभी नहीं होता ।

दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—प्रकृति और प्रकृति के कार्यों के दोष इन दोनों के देखने से रागों की शान्ति होती है और जिसका चित्त राग द्वेष इत्यादिकों से युक्त है उसको 'उपदेश फल का देने वाला नहीं होता ।

न मलिनचेतस्युपदेशवीजप्ररोहोऽजवत् ॥ २९ ॥

अर्थ—रागादिकों से मलिन चित्त में उपदेश रूप ज्ञान वृक्ष का बीज नहीं जमता

राजा अजके समान, राजा अज की इन्दुमती स्त्री थी उस स्त्री से राजा का बडा भारी प्रेम था काल बश होकर वह इन्दु मती मृत्यु को प्राप्त होगई राजा अज उसके बियोग से बडा भारी दुःखी हुआ उसका हृदय स्त्री के बियोग से परम मलिन होगया था वशिष्ट जी ने उपदेश भी किया लेकिन वियोग मलिन हृदय में उपदेश का अंकुर न जमा।

नाभास मात्रमपि मलिन दर्पणवत् ॥ ३० ॥

अर्थ—मलिन हृदय में उपदेश का आभास मात्र भी नहीं पडता जैसे कि मैले शीशे में प्रतिबिम्ब (अक्स) नहीं दीखता।

न तज्जस्यापि तद्रूप तापकंज वत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—मोक्ष भी प्रकृति के ही सहारे से होता है। परन्तु जैसे प्रकृति से संसार पैदा हुआ है और वह उसी प्रकृति का रूप समझा जाता है वैसे मोक्ष भी प्रकृति का रूप नहीं होसकता' क्योंकि जैसे पङ्क (कीच) से उत्पन्न हुआ कमल कीच के रूप का नहीं होता, वैसे प्रकृति से पैदा हुआ मोक्ष प्रकृति रूप नहीं होसकता है।

नभूति योगे ऽपि कृतकृत्यतो पास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ३२

अर्थ—अणिमादि बिभूतियों के मिलने पर भी कृत कृत्यता नहीं होती क्योंकि जैसा उपास्य (जिसकी उपासना की जाती है) होगा वैसी ही उपासक सिद्धि प्राप्त होगी। अर्थात् जो धनवान् की उपासना करीजातीहै तो धन मिलता है और दरिद्री की उपासना करने से कुछ भी नहीं मिलता इसही प्रकार अणिमा आदि सिद्धियां नाश होने वाली हैं इस वास्ते उनकी प्राप्ति से कृत कृत्यता नहीं होसकती। सिद्धिवत् सिद्धिवत् ऐसा जो दो दफे कहना है सो अध्याय की समाप्ति का जताने वाला है ?।

इति सांख्य दर्शने चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः।

अथ पंचमोध्यायः

महर्षि कपिल जीने अपने सास्त्रका सिद्धान्त मुक्ति के साधनों के संबंध में पहिले चार अध्यायोंमें विस्तार पूर्वक वर्णन करा अब इस अध्याय में वादी प्रतिवादीरूप उन से जो शास्त्रमें सूक्षमता पूर्वक कहीहुई बातेहैं का प्रकाशकरेंगे। कोईवादीशंकाकरताहै कि मंगला चरण करना फजूल है इस विषय को हेतु गर्भित वाक्योंसे प्रतिपादन करते हैं।

मंगलाचरणं शिष्टा चारात् फल दर्शनात् श्रुतितश्चेति ॥ १ ॥

अर्थ—मंगला चरण करना जरूर ही चाहिये। क्यौं कि शिष्टजनोंका यही आचार है और प्रत्यक्षता में भी यही फल दीखता है। जो उत्तम आचरण करता है वोही सुख भोगता है। अहरह संध्या मुपासीत, अहर हानि होत्रं जुहुयात्, रोज रोज संध्या करनी चाहिये, रोज २ अग्नि होत्र करना चाहिये, इत्यादि श्रुतियां भी अच्छे ही आचरणों को कहती हैं। वहुतेरे मनुष्य मंगला चरण का यह अर्थ

समझते हैं कि जब किसी नये ग्रंथ की रचना करी जाय तब उस ग्रंथ के शुरू करने में किसी उत्तम शब्द का लिख देना उसको मंगला चरण कहते हैं ऐसा समझना ठीक नहीं क्यौं कि पहिलेतो मंगला चरण का वैसा अर्थ नहीं होसकता दूसरे यदि ग्रंथ के आदिमें मंगल किया तो अन्यत्र मंगल होगा, तीसरे कादम्बर्यादि ग्रन्थोंमें मंगल के होने पर भी उनकी निर्विघ्न समाप्ति नहीं हुई इस वास्ते ऐसा मानना किसी सूरत श्रेष्ठ नहीं इस विषय को मुख्तसिर तौर से लिखा है इसका विस्तार जादे हैं और ग्रन्थों में कर्म का फल अपने आप होता है इस पक्ष का खण्डन करते हैं

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणातत्सिद्धेः ॥ २ ॥

अर्थ—कर्म से फल की सिद्धि नहीं होती किन्तु फल सिद्धि देने वाला ईश्वर ही है

स्वोप कारादधिष्ठानं लोकवत्॥३

अर्थ—जेसे कि संसार में दीखता है कि पुरुष अपने उपकारके वास्ते कर्मों का फल देनेवाला एक अलाहिदा नियुक्त करता है इसही तरह ईश्वर भी सबके कर्म फल देनें के वास्ते एक अधिष्ठान है।

लौकिकेश्वर वदितरथा ॥ ४ ॥

अर्थ—यदि ईश्वर को सब कर्मों का फल देनें वाला नमाना जाय तो लौकिक ईश्वरों की तरह अलाहिदा २ कर्मों के फल देने वाले अलाहिदा २ ईश्वर मानने पडेंगे। जैसे कि संसार में जज कलक्टर इत्यादिक अलाहिदा २ कर्मों के फल के देने वाले अलाहिदा २ ईश्वर हैं। लेकिन इन लौकिक ईश्वरोंमें भ्रम प्रमाद इत्यादिक दोष दीखतेहैं यही दोष उस ईश्वर में भी दीख पडेंगे। इस वास्ते ऐसा मानना योग्य नहीं कि कर्म का फल ईश्वर नहीं देता।

पारि भाषिको वा ॥ ५ ॥

अर्थ—कर्म का फल अपने आप होता है ऐसा मानने से एक दोष और भी प्राप्त होता है वह दोष यह है कि ईश्वर सिर्फ नाम मात्रही रह जायगा क्यौं कि कर्मों का फल तो आपही होजाताहै फिर ईश्वर की क्या अपेक्षा रही। और ईश्वरके नाम मात्र ही रहजाने में यह भी दोष होगा कि वर्तमान (मौजूद) इस संसार की सिद्धि भी नहो सकैगी।

नारागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियत कारणत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थ—ईश्वर सृष्टि की सिद्धि में प्रति नियत कारण है उसके बिना सिर्फ राग से अर्थात् प्रकृति महदादि कों से संसार की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—ईश्वर जीव रूपधारी प्रकृति का संगी है और उसमें प्रकृति के संयोग होने से रागादिक भी हैं।

उत्तर—तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

अर्थ—तुम्हारा यह कथन योग्य (ठीक) नहीं क्योंकि ईश्वर नित्य मुक्त न रहेगा

अर्थात् जैसे जीव प्रकृति के संगी होने से अनित्य मुक्त है इस ही तरह ईश्वर को भी मानना पड़ेगा। और जो लोग इस तरह ईश्वर को मानते हैं उनका ईश्वर भी संसार के जीवों के समान अनित्य मुक्त होगा। यदि ऐसा कहा जावे कि ईश्वर से संसार बना है अर्थात् ईश्वर उपादाना कारण है सो भी ठीक नहीं।

प्रधान शक्ति योगा च्चेत् संङ्गापत्तिः ॥ ८ ॥

अर्थ—यदि ईश्वर को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरुष में संङ्गापत्ति होजाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में संगत हुई है वैसे ईश्वर भी स्थूल होजाय इस वास्ते ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं होसकता किंतु निमित्त कारण है।

सत्तामात्रा च्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥९॥

अर्थ—अगर चेतन से जगत् की उत्पत्ति है तो जिस प्रकार परमेश्वर सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त हैं इसही तरह सब संसार भी सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त होना चाहिये लेकिन संसार में यह बात नहीं दीखती इस हेतु से भी परमेश्वर जगत् का उपादान कारण सिद्ध नहीं होता किंतु निमित्त ही कारण सिद्ध होता है। और भी पुष्टिकारक इस विषयका यह सूत्र है।

प्रमाणा भावान्नतत्सिद्धिः ॥१०॥

अर्थ—ईश्वर संसार का उपादान कारण है इसमें कोई प्रमाण नहीं है इस वास्ते उस की सिद्ध नहीं हो सकती।

संबन्धा भावान्नानु मानम् ११

अर्थ—जबकि ईश्वर का संसार से उपादान कारण रूप संबन्ध ही नहींहै तब ऐसा अनुमान करना कि ईश्वर ही से जगत् उत्पन्न हुआ है व्यर्थ है।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य १२

अर्थ—जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही है इस बात को श्रुतियां भी कहती हैं। अजा मेकां लोहित शुक्ल कृष्णां व ह्वी प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः, यह श्वेताश्वतर उपनिषद्का वाक्य है इसका अर्थ यह है कि जो जन्म रहितसत्व, रजतमोगुण रूप प्रकृति है वोही स्वरूपा कारसे बहुत प्रजारूप होजाती है अर्थात् परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है और ईश्वर अपरिणामी और असंगी है। कोई २ ऐसा मानते हैं कि ईश्वर को अविद्या संग होने से बंधन में पडना पडता है और उसी के योग से यह संसार है इस मतका खंडन करते हैं।

नाविद्या शक्ति योगोनिः संगस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—ईश्वर निःसंग है इसवास्ते उस ईश्वर को अविद्या शक्ति का योग नहीं हो सकता।

तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—यदि अविद्या के योग से संसार की सिद्धि मानी जाय तो अन्योन्या श्रयत्व दोष प्राप्त होता है क्योंकि विनाईश्वर अविद्या संसार को नहीं करसकती और ईश्वर वगैर अविद्या के संसार नहीं बना सकता यही दोष हुआ। यदि अविद्या और ईश्वर

इन दोनों को एक कालिक (एक समय में होने वाले) अनादि माने जैसे किबीज और अंकुरको मानते हैं यह भी ठीक नहीं क्योंकि

नबीजांकुरवत् सादिश्रुतेः १५

अर्थ—बीज और अंकुर के समान अविद्या और ईश्वर को मानेतो यह दोष प्राप्त होता है। सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, एक मेवा द्वितीयं ब्रह्म, हे सौम्य पहिले यह जगत् सतही था, एकही अद्वितीय ईश्वरहै इत्यादि श्रुतियां एकही ईश्वर को प्रतिपादन करती हैं और जगत् को सादि और ईश्वर को अद्वितीय कहती हैं। अगर उस के साथ अविद्या का झगडा लगाया जावे तो उक्त श्रुतियों में विरोध होजायगा यदि ऐसा कहा जाय कि हमारी अविद्या योग शास्त्र कीसी नहीं है किन्तु जैसी आप के मत्त में प्रकृति है वैसेही हमारे मतमें अविद्या है तो यहमत भी ठीक नहीं है।

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाध प्रसङ्गः ॥ १६ ॥

अर्थ—यदि विद्यासे अतिरिक्त (दूसरे) पदार्थ का नाम अविद्या हैं अर्थात् विद्या का नाश करनेवाली अविद्या है तो ब्रह्म का भी जरूर नाश करेगी क्यों कि ब्रह्म भी विद्या मय है। और इस सूत्र का दूसरा यह भी अर्थ है। यदि अविद्या विद्यारूप ब्रह्म से अलाहिदा है और उस को विविध (अनेक प्रकार के) परिच्छेद रहित ब्रह्म में माना जाता है। और ब्रह्म अविद्या से अन्य अर्थात् दूसरा है और अविद्या ब्रह्म से अन्य है तो ब्रह्म के परिच्छेद रहितत्वमें बाधा पड़ेगी इस वास्ते ऐसा मानना ठीक नहीं हैं॥

प्रश्न—अविद्या का किसी से बाध होसकता है या नहीं इसकाही विचार करते हैं।

अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७ ॥

अर्थ—उस अविद्या का अगर किसी से बाध नहीं होसकता तो मुक्ति आदि विद्या प्राप्ति का उपाय करना फजूल है।

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् १८

अर्थ—यदि विद्या से अविद्या का बाध होजाता है तो अविद्या से पैदा हुये जगतका भी बाध होना चाहिये॥

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥ १९ ॥

अर्थ—यदि अविद्या को जगत् रूप मानै अर्थात् जगतही अविद्या है तो अविद्या में सादिपना आया जाता है क्यों कि जगत् सादि है। इस वास्ते अविद्या कोई चीज नहीं है। उसी बुद्धि वृत्ति का नाम अविद्या है जो महर्षि पातञ्जलि ने कही है। और इस विषय में यह भी विचार होता है कि अब कपिलाचार्य के मत में सम्पूर्ण कार्यों की विचित्रता का हेतु प्रकृति है और वोही प्रकृति सुख दुःखादिक का हेतु है तो धर्म्माधर्म के मानने की क्या जरूरत है। अब इस ही पराविचार करके धर्मकी सिद्धि करते हैं।

नधर्म्मापलापः प्रकृति कार्यवैचित्र्यात् ॥ २० ॥

अर्थ—प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से धर्म का अपलाप (दूरहोना)नहीं होसकता क्योंकि॥

श्रुतिलिंगादि भिस्तत्सिद्धि॥२१॥

अर्थ–उसकी सिद्धि श्रुति और योगियों के प्रत्यक्ष से होसकती है। पुण्यो वै पुण्ये

न भवति पापः पापेन, पुण्य निश्चय करके पुण्य से होता है और यह भी निश्चय है कि पाप पापसे ही पैदा होता है । इत्यादि श्रुतियां भी धर्म के फल को कहती है इस वास्ते धर्म का अप लाप नहीं होसकता ।

प्रश्न—धर्म में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है इस वास्ते उसकी सिद्धि नहीं होसकती

उत्तर—ननियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥ २२ ॥

अर्थ—धर्म की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो यह कोई नियम नहीं है क्योंकि इस में अनेक प्रमाण हैं और प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवाय और प्रमाणों सेभी पदार्थ की सिद्धि होती है ।

प्रश्न—धर्म की तो सिद्धि इस तरह कर लीगई लेकिन अधर्म की तो सिद्ध किसी प्रमाण से नहीं होसकती ।

उत्तर—उभय त्राप्येवम्॥२३॥

अर्थ—जैसे धर्म की सिद्धि में प्रमाण पाये जाते हैं इसही तरह अधर्म की सिद्धि में भी प्रमाण पाये जाते हैं ।

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥ २४ ॥

अर्थ—वेदादि सत् शास्त्रों में जिस बात की विधि पाई जाती है वही धर्म है और इस के सिवाय अधर्म है यदि इस प्रकार की अर्थापत्ति निकाली जायतो भी ठीक नहीं क्यों कि श्रुति आदिकों में जिस प्रकार धर्म की विधियों का वर्णन हैं उसही प्रकार अधर्म का निषेध भी है जैसे परदारान्नगच्छेत्, पराई स्त्रीके समीप गमन न करे इस तरहके वाक्य धर्माधर्म दोनों के विषय में ही निषेध और विधि बराबर पाये जाते हैं ।

प्रश्न—यदि धर्म्मादि को आप मानते हैं तो पुरुष को धर्म वाला मान कर पुरुष में परिणामित्व प्राप्त होता है ।

उत्तर—अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—धर्मादिक अन्तःकरण के धर्म हैं । अर्थात् इन धर्मादिकों का संबंध अन्तःकरण से है जीव से नहीं हैं । और इस सूत्र में जो आदि शब्द है उसके कहने से वैशेषिक शास्त्रोंके आचार्यों ने जो आत्मा के विशेष गुण माने है उनका ही ग्रहण माना गया है अर्थात् वोही आत्मा के विशेष गुण मानेगये हैं । प्रलयावस्था में तो अन्तःकरण रहता ही नहीं तब धर्मादिक कहां रहते हैं ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये । कारण यह है कि आकाश के समान अन्तःकरण भी नाश रहितहै अर्थात् अन्तःकरन का नाश कदापि नहीं होता और इसबातको पहिले कह भी आये हैं कि अन्तःकरण कार्य कारण भाव दोनोंरूप को धारण करता है । इससे अन्तःकरणरूप जो प्रकृति का अंश विशेष है उसमें धर्म अधर्म दोनों के संस्कार रहते हैं । इसबात को ही किसी कविने भी कहा है किधर्म नित्य है और सुख दुःखादिक सब अनित्य है । इस विषय में यह संदेह भी पैदा होता है कि प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से जो धर्म धर्म आदि की सिद्ध करी गई है वह ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति तो त्रिगुणात्मक अर्थात् रजोगुण, तमोगुण, सतोगुणइनसे युक्त है और उसके कार्यों का बाध इन श्रुतियों से

साफ साफ मालूम पडता है। न निरोधो न चोत्पत्तिः, वाचारम्भणं विकारं नामधेयं मृत्ति के त्येव सत्यम् न नाश है न उत्पत्ति है, घट पट आदि सब कहने मात्र को ही हैं सिर्फ मृत्तिका (मिट्टी) ही सत्य है। इसवास्ते प्रकृति के गुण मानना ठीक नहीं इसपक्ष के खण्डन् के वास्ते यह सूत्र है।

गुणादीनांचनात्यन्त वाधः २६

अर्थ—गुण जो सत्वादिक अर्थात् सत्व रज तम उनके धर्म जो सुखादिक और उन के कार्य जो महदादिक हैं उनका स्वरूप से वाध नहीं है अर्थात् स्वरूप से नाश नहीं होता किंतु संसर्ग से वाध होता है। जैसे आग के संसर्ग (मेल) से जल की स्वाभाविक शीतलता का वाध हो जाता है लेकिन उसके स्वरूप का वाध नहीं होता इसही तरह प्रकृति के गुणों का भी वाध नहीं होता।

पंचावयवयोगात् सुखसंवित्तिः२७

अर्थ—सुखादि पदार्थों की सिद्ध पंचावयव वाक्य से होती है जिस तरह न्यायशास्त्र में मानी गई है। इससवव जव सुख आदि की सिद्ध न्यायशास्त्र के अनुसार मान ली जाती है तव उनका स्वरूप से नाशभी नहीं माना जासकता क्योंकि जो पदार्थ सत् है उस का नाश नहीं हो सकता। और उस पंचावयव वाक्य से सुखादि की संवित्ति इसतरह होती है कि प्रतिज्ञा हेतु उपनय उदाहरण निगमन इन पांचों को सुखमें इस तरह लगाना चाहिये कि सुख सत् है इस कानाम प्रतिज्ञा है क्योंकि प्रयोजन की क्रिया कर्ता वह सत् है इसका नाम उपनय हैं। जैसे चेतन प्रयोजन की क्रियाओं का करता है उसही तरह यहभी। इसका नाम दृष्टान्त है। पुलकित (रुओंका खण्डा होना) होना आदि प्रयोजन की क्रिया सुख में है इसवास्ते वह सच्चा है यहां सिर्फ सुख का ग्रहण करना नाम मात्र ही है। अर्थात् इसही तरह और गुणों का स्वरूप से नाश नहीं होता इसजगह आचार्य ने न्याय का विषय इस वास्ते वर्णन करा है कि इन पांच वातों के वगैर किसी झूठे सच्चे पदार्थ का निश्चयनहीं होसकता और जो इस पंचावयव से सिद्ध नहीं होसकता उसमें अनुमान करना भी ठीक नहीं। और एकनास्तिक जोकि प्रत्यक्ष के सिवाय और प्रमाणों को नहीं मानता और इस पंचावयव के मुख्य सिद्धांतव्यक्ति का खण्डन करने के आशय से इस २८ वें सूत्रसे उसमें दोष और अनुमान को असंगत वताता है।

नसकृद्ग्रहणात्संबंधसिद्धिः २८

अर्थ—जहां धुआं होगा वहां अग्नि भी होगी। इससाहचर्य के स्वीकार (मानने) से व्याप्तिरूपी संवन्धकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि आग में धुआं हमेसा नहीं रहता और जो महानस (रसोई का स्थान) का दृष्टांत दिया जाता है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी जगह अग्नि और घोड़ा इन दोनों को किसी आदमी ने देखा अव दूसरी जगह उसको घोडा नजर पडा तव वह ऐसा अनुमान नहीं करसक्ता कि यहां अग्नि भी होगी क्योंकि घोडा दीखताहै। ऐसाही अग्नि और घोडा मैंने वहां भी देखा था, वस इस पूर्व पक्षसे नैयायिक जैसा अनुमान करते हैं वह अयुक्त सिद्ध हुआ और प्रत्यक्ष प्रमाण

कोही माननेवाले चार्वाक नास्तिक के मत की पुष्टि हुई इसका यह उत्तर है ।

नियत धर्मसाहित्य मुभयोरे-कतरस्यवाव्याप्तिः ॥ २९ ॥

अर्थ—जिन दो पदार्थों का व्याप्य व्यापकभाव होताहै उन दोनों पदार्थों में से एक का अथवा दोनोंका जो नियत धर्म है उसके साहित्य (साथ रहने का नियम) होने को व्याप्ति कहते हैं । विशेष व्याख्या इस तरह है कि जैसे पहाड पर आग है क्योंकि धुआं दीखता है । जहां जहां धुआं होताहै वहीं २ आगभी जरूर होतीहै । इसका नामही व्याप्ति है । इस में यह जानना चाहिये कि धुआं बगैर आग के नहीं रहसकता है लेकिन आग बगैर धुयें के रहसकतीहै इससे सिद्ध हुआ कि धुयें का आग के साथ रहना नियत धर्म साहित्य है लेकिन यह एक का नियत धर्म साहित्य हुआ । चार्वाकने जो अग्नि घोडे का दृष्टांत देकर व्याप्ति का खण्डन करा था वह भी ठीक नहीं होसकता क्योंकि घोडा तो सैकडोंजगह बिना अग्निके दीखनेमें आता है और आग को बगैर घोड़े के देखते हैं इस वास्ते सहचर्य नहीं रहा इस वास्ते वह पक्ष अयुक्त सिद्ध होगया । अब रहा दोनों का नियत धर्म साहित्य वहगंध और पृथिवी में मिलता है अर्थात् जहां पृथिवी होगी वहां गंध जरूर होगी और जहां गंध होगी वहां पृथिवी भी जरूर होगी इन दोनोंमें से बगैर एक के एक नहीं रहसकता है ॥

नतत्वान्तरं वस्तुकल्पना प्रसक्तेः ॥ ३० ॥

अर्थ—पहिले सूत्र में जो व्याप्ति का लक्षण कियागया है उस के सिवाय किसी और पदार्थ का नाम व्याप्तिनहीं होसकता क्योंकि इस प्रकार अनेक तरह की व्याप्ति मानने में एक नया पदार्थ कल्पना करना पडैगा इसवास्ते व्याप्तिका वोही लक्षण ठीक है जो पहिले सूत्र में करा है ॥

निजशक्त्युद्भव मित्याचार्याः ३१

अर्थ-जो व्याप्यकीशक्ति से उत्पन्न किसी विशेष शक्ति का रूप हो वही व्याप्ति आचार्यों के मतमें मानने लायक है । इस सूत्र का आशय इस दृष्टांत से समझना चाहिये कि व्याप्य जो अग्नि है उसकी ही शक्ति से धुआं पैदा होता है और वह धुआं आग की किसी विशेष शक्ति का रूपहै । इसही तरह के पदार्थ को व्याप्ति कहते हैं । और जिस में यह बात नहीं हैं वह व्याप्ति किसी सूरत नहीं होसकती ॥

प्रश्न—धुआं आग की शक्ति से पैदा नहीं होता है गीले ईंधन की शक्ति से पैदा होता है ।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है अगर गीले ईंधन में ऐसी शक्ति है तो वायु (हवा) के संयोग होने से ईंधन में से धुआं क्यों नहीं पैदा होता लेकिन ऐसा देखने में नहीं आता इससे यह बात माननी पडैगी कि धुआं अग्नि की शक्ति विशेष है ।

आधेय शक्तियोगइति पंचशिखः ॥ ३२ ॥

अर्थ—आधार में जो आधेय शक्ति रहती है उसकोही पंचशिख नाम वाले आचार्य व्याप्ति मानते हैं । इसका आशय भी इस

दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये कि आधार जो आग है उसमें आधेय जो धुआं उसकी रहनेकी जो शक्तिहै उसको व्याप्ति कहतेहैं।

प्रश्न—जब आग में धुआं नहीं दीखता है तब उसमें व्याप्ति का नाश हो जाता है क्या।

उत्तर—नहीं क्योंकि धुयें का आविर्भावत्तिरोभ होता रहता है अर्थात् धुआं कभी पैदा होता कभी उसी के भीतर लय होजाता है किन्तु आग से धुआं नाश नहीं होता है इस वास्ते व्याप्ति का नाश नहीं होसकता इसको पहिले अध्याय में विस्तार पूर्वक कह आये हैं।

प्रश्न—आधार में आधेय शक्ति मत्व क्यों कल्पना किया जाता है आधार की स्वरूप शक्तिको ही व्याप्ति क्यों नहीं मानते।

उत्तर—न स्वरूप शक्ति र्नियमः पुनर्वाद प्रसक्तेः ॥ ३३ ॥

अर्थ—व्याप्य (आधार) की स्वरूप शक्ति को नियम अर्थात् व्याप्ति नहीं मान सकते क्योंकि उसमें फिर झगडा पडने का भय है। उस झगडे को लिखते हैं कि जिस का भय है।

विशेषणानर्थक्य प्रशक्तेः॥३४॥

अर्थ—विशेषण देना फजूल होजायगा। जैसे कहा गया है कि बहुत धुयें वाली आग है, इस वाक्य में बहुत शब्द विशेषण हैं और धुआं विशेष्य है इसही तरह धुआं आधेय है और आग आधार है। अगर धुयें को अग्नि की स्वरूप शक्तिमानलें तो बहुत शब्द को क्या मानें क्योंकि उस बहुत शब्द को अग्नि की स्वरूप शक्ति नहीं मानसकते और उस वाक्य के साथ होने से वह शब्द अपना कुछ अर्थ भी जरूर रखता है एवं उस अर्थ से स्वरूप शक्तिमें न्यूनाधिकता (कमती बढ़ती) भी जरूर होजाती है तो उसको भी कुछ न कुछ जरूर मानना चाहिये। अगर न माना जायगा तो उसका उच्चारण करना फजूल हुआ जाताहै और महात्माओं के अक्षर व्यर्थ नहीं होते।

और भी दूसरा झगडा प्राप्त होताहै कि।

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

अर्थ—जैसे कि पत्तों का आधार पेड़ है और व्याप्ति का लक्षण स्वरूप शक्ति मान कर वृक्ष को शक्ति स्वरूप जो पत्ते हैं वोही व्याप्ति के कहने से ग्रहण होसकते हैं। इस तरह मानने में ये दोष होगा कि जैसे वृक्ष की स्वरूप शक्ति पत्तों को मान लिया और वही व्याप्ति भी होगई तो पत्तों के टूटने पर व्याप्ति का भी नाश मानना पड़ेगा अगर व्याप्ति का नाश माना जायगा तो बड़ाभारी झगड़ा पैदा होजायगा और प्रत्यक्ष वादी चार्वाक नास्तिक का मत पुष्ट होजायगा इस वास्ते ऐसा न मानना चाहिये कि आधार की स्वरूप शक्ति काही नाम व्याप्ति है। अब इस बात का निश्चय करते हैं कि आचार्य और पंच शिख नामक आचार्य के मतमें भेदहै या नहीं। क्योंकि पंचशिख नामवाला आचार्य तो आधार (आग) में आधेय (धुयें) की शक्ति होने को व्याप्ति मानताहै। और आचार्य मुनि कपिल जी व्याप्य आग की शक्तिसे पैदाहुये किसी

शक्ति विशेष को दूसरा पदार्थ मानकर उसको व्याप्ति मानते हैं इन दोनों मेंसे कौन सही है।

आधेय शक्तिसिद्धौ निजशक्ति योगः समानन्यायात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—समान न्याय अर्थात् बराबर युक्ति होनेसे जैसे कि आधेय शक्तिकी सिद्धि होतीहै वैसेही निज शक्ति योगयह आचार्यों का मत भी ठीकहै। दोनों मेंसे कोई भी युक्ति हीन नहीं मानते हैं। यह व्याप्ति का झगड़ा सिर्फ इसही वास्ते पैदा किया गयाथा कि गुणआदि स्वरूप से नाशवान् नहीं है इसपक्ष को तरक्की देनेके वास्ते आचार्य को अनुमान प्रमाणकी जरूरत हुई औरवह अनुमान प्रमाण पंचावयव के बिना नहीं होसकता था इस वास्ते उसको लिखना पड़ा इसी निश्चय में पंचावयव के अन्तर्गत एकसाहचर्य नियम जिसका दूसरा नाम व्याप्तिहै आनपड़ा उसको प्रकाश करने केवास्ते यह कहकर अपने पक्ष को पुष्ट करलिया। अब इससे आगे पंचावयव रूप शद्ब को ज्ञान की पैदायस में हेतु सिद्ध करने के वास्ते शद्ब की शक्तियोंका प्रकाश करके उसशद्ब प्रमाण में बाधा डालने वालों के मतका खण्डन करते हैं।

वाच्य वाचक भावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥ ३७ ॥

अर्थ—शद्बके अर्थ में वाच्यता शक्ति रहती है और शद्बमें वाचकता शक्ति रहा करती है इसको ही शद्ब और अर्थ का वाच्य वाचकभाव संबंध कहते हैं। अर्थात् शद्ब अर्थ को कहा करता है और अर्थ शद्बमें कहाजाताहै यही इन शद्बार्थों का सम्बन्ध है। उस वाच्य वाचकता रूप शक्ति को कहते हैं

त्रिभिःसंबंध सिद्धिः ॥ ३८ ॥

अर्थ—पहिले कहे हुये संबंध की सिद्धि तीन तरह से होती है एक तो आप्त (पूर्ण विद्वान्) के उपदेश से दूसरे वृद्धों के चाल चलन से तीसरे संसार में जो योग्य बर्ताव में आनेवाले पद हैं उनके देखने से इनहीं तीन तरह के शब्दों का वाच्य वाचक भाव होता है। उसको इस तरह समझना चाहिये कि आप्तों के जरिये से ऐसे शब्दों का ज्ञान होता है जैसे ईश्वर निराकार सत् चित् आनन्द स्वरूप हैं जब ईश्वर शब्द कहा जावैगा तब पूर्वोक्त (पहिले कहे हुये) विशेष वाले पदार्थ का ज्ञान होगा और वृद्धों के चाल चलन से यह मालूम होता है कि जिसके शास्त्रा (गौके कंधो को नीचे जो लंबी सी साल लटकती रहती है) और लांगूल (पूंछ) होती है उसको गौ कहते हैं ऐसा ज्ञान हो जाने पर अब जब गौ शब्द का उच्चारण होगा तब उसही अर्थ का ज्ञान होजायगा और प्रसिद्ध शब्दों का व्यवहार इस तरह है कि जैसे कपित्थ एक पेड का नाम है वह क्यों कपित्थ शब्द से प्रसिद्ध है इस प्रकार का तर्क न करना चाहिये क्योंकि लोक प्रसिद्ध होने के कारण कपित्थ शब्द कहनेसे कपित्थ (कैथ) काही ग्रहण होता है।

नकार्ये नियम उभयथा दर्श-नात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह कोई नियम नहीं है कि शब्द शक्ति का वाच्य वाचक भाव कार्य में हीहों और जगह नहीं। क्योंकि दोनों तरह शब्द की शक्तियों का ग्रहण दीखता है शास्त्रों में जैसे किसी वृद्ध ने किसी बालक से कहा गौ को लाओ इस वाक्य के कहने से गौ का लाना यह कार्य दीखता है और इसके शब्द भी उस अर्थ को ही दिखाते हैं। और तेरे पुत्र पैदा होगया इसमें कार्य का प्रत्यक्ष भाव नहीं दिखाई पडता है। क्योंकि पुत्र का पैदा होना यह जो क्रियाहै वह पहिले ही हो चुकी और यह वाक्य उस बीती हुई क्रिया को कहता है इस वास्ते यह नियम नहीं कि कार्य में ही शब्द और अर्थ का संवन्ध न हो।

प्रश्न—यह उपरोक्त प्रतीति लौकिक बातों में होसकती है क्योंकि संसारमें बहुधा कार्य शब्दों का प्रयोग करा जाता है किन्तु वेद में जो शब्द हैं उनके अर्थ का ज्ञान कैसे होता है क्योंकि शब्द कार्य नहीं है।

उत्तर—लोकेऽव्युत्पन्नस्य वेदार्थ प्रतीतिः ॥ ४० ॥

अर्थ—जो मनुष्य सांसारिक कार्यों में चतुर होतेहैं वोही वेद को यथार्थ तौर से जान सकते हैं क्योंकि ऐसा कोई भी लोक का हितकारी कार्य नहीं है जो वेद में न हो इस वास्ते वेद में विद्वता पैदा करने के अर्थ सांसारिक जीवों को योग्यता पैदा करनी चाहिये और शब्दोंकी शक्ति लोक (संसार) और वेद इन दोनों में बराबर है। इस विषय पर नास्तिक शंका करते हैं।

नत्रिभिर पौरुषे यत्वाद्वेदस्यतद-र्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—आपने जो तीन प्रमाण दिये उन प्रमाणों से वेद के अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य मनुष्य की बात को समझ सकता है लेकिन वेद अपौरुषेय (जो किसी मनुष्यका बनाया हुआ न हो) है इस वास्ते उसका अर्थ इन्द्रियों से ज्ञात नहीं हो सकता है। क्योंकि वह वेद अतीन्द्रिय है. अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति से बाहर है। इस का समाधान करने के वास्ते पहले इसबात को सिद्ध करते हैं कि वेदों का अर्थ प्रत्यक्ष देखने में आता है अतीन्द्रिय नहीं है।

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वै-शिष्ट्यात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—वेद के अर्थ को जो अतीन्द्रिय (जो इंद्रियों से न जाना जाय) कहा सो ठीक नहीं वेद से जो यज्ञादिकरे जातेहैं और उन यज्ञादिकों में जो जो काम करे जाते हैं वो सब स्वरूप से ही धर्म हैं क्योंकि उन यज्ञादिकों का फल प्रत्यक्ष में दीखता है जैसा कि यज्ञाद्भवतिपर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः यज्ञ से मेघ होता है और मेघ के होने से अन्न पैदा होता है इत्यादि वाक्य गीता में मिलते हैं।

प्रश्न—जब कि वेद अपौरुषेय है तब उस का अर्थ कैसे ज्ञात होता है॥

उत्तर—निजशक्तिर्व्युत्पत्या-व्यवच्छिद्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—शब्द का अर्थ होना यह शब्दकी स्वाभाविकी शक्ति है और विद्वानो की पर-

म्परासे वह शक्ति वेंदो के अर्थोंमें भी चली आती है और उसही व्युत्पति (वाकफियत) से वृद्ध लोग शिष्योंको उपदेश करते चले आये कि इस शब्द का ऐसा अर्थ है। और जो ऐसा कहते हैं कि वेंदो का अर्थ प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय है उस का यह समाधान है।

योग्यायोग्येषुप्रतीति जनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्यादि जिन कार्यों को वेद ने अच्छा कहा है और हिंसादि जिन कार्यो को बुरा कहा है उनकी प्रतीति प्रत्यक्षता में दीखती है अर्थात् इन दोनों कार्यों का जैसा फल वेद में लिखाहै वैसाही देखने में आता है। इससे इस बातकी सिद्धि होगई कि वेद का अर्थ अतीन्द्रिय नहीं है।

प्रश्न—ननित्यत्वंवेदानांकार्यत्व श्रुतेः ॥ ४५ ॥

अर्थ–वेद नित्यत्व नहींहै क्योंकि श्रुतियों से मालूम होता है कि तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानिजज्ञिरे। उस यज्ञरूप परमात्मा से ऋग्वेद साम वेद पैदा हुये इत्यादि श्रुतियां पुकार पुकारकह रही हैं कि वेद पैदाहुये जब ऐसा साबूत होगया तो यह बात निश्चय ही है कि जिसकी उत्पत्ति है उसका नाशभी जरूर है इसवास्ते वेद कार्य रूप होने से नित्य नहीं हो सकते हैं।

उत्तर—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्या भावात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—वेद किसी पुरुष के बनाये हुये नहीं हैं क्योंकि उनका बनाने वाला दीखता नहीं तब यह बात माननी पड़ेगी कि वेद अपौरुषेय हैं जबकि वेदों का अपौरुषेयत्व सिद्धहोगया तो वह जिसके बनाये हुये वेद हैं नित्य है और नित्य के कार्य भी नित्य होतेहैं इस कारण वेदों का नित्यत्व सिद्ध होगया यदि ऐसा कहा जावै कि वेदों को भी किसी जीव ने बनाया होगा सोभी ठीक नहीं।

मुक्ता मुक्तयो रयोग्यत्वात् ।४७।

अर्थ—जीवभी दो तरह के होतेहैं एकतो मुक्त दूसरे अमुक्त यह दोनोंप्रकार के जीव वेद के बनाने के अधिकारी नहीं है कारण यह है कि मुक्त जीव में वह शक्ति नहीं रहती जिस से वेद बनासके और बृद्ध जीव अज्ञानी अल्पज्ञ (थोड़ा जानने वाला) इत्यादि दोषों से युक्त होता है और वेद में इस तरह की बातें देखने में आती हैं जो बिना सर्वज्ञ के नहीं होसकती और जीव अल्पज्ञ हैं इस प्रमाण से भी वेदों की नित्यता सिद्ध होगई। इसही विषय को और भी मजबूत करते हैं।

ना पौरुषेय त्वान्नित्यत्वमं कुरादिवत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—वेद अपौरुषेय है इस वास्ते नित्य है लेकिन बीज और अंकुर में जैसे कार्यत्व मानकर अनित्यपना माना जाता है उस तरह नहीं।

तेषामपितद्योगे दृष्ट बाधादि प्रशक्तिः ॥ ४९ ॥

अर्थ—यदि वेदों को भी बनाया हुआ माना जायगा तो प्रत्यक्ष जो दीखता है उस में दोष प्राप्त होगा दृष्टान्त जैसे कि अंकुरका

लगाने वाला दीखता है और उपादान कारण जो बीज है वह भी दीखताहै इस तरह वेदों का बनाने वाला और उपादान कारण नहीं दीखता है इस कारण नित्य है अगर नित्य न माना जाय तो प्रत्यक्ष से विरोध हो जायगा । वेदों को जो अपौरुषेय कहा है उसमें यह सन्देह होता है कि पौरुषेय किस को कहते हैं और अपौरुषेय किस को कहते हैं इस सन्देह को दूरकरनेके वास्ते पौरुषेयका लक्षण लिखतेहैं

यस्मिन्न दृष्टेऽपिकृतबुद्धि रुपजायतेतत्पौरुषेयम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस पदार्थ का कर्ता प्रत्यक्ष न हो अर्थात् बनाने वाला न दीखता हो लेकिन उस पदार्थ के देखने से यह ज्ञान हो कि इस का बनानेवाला कोई जरूर है इसकाही नाम पौरुषेय है। लेकिन वेदों के देखने से यह बुद्धि पैदा नहीं होती क्योंकि वेदों की पैदायश ईश्वर से मानीगई है और उन वेदों का बनानेवाला कोई नहीं है और पैदायश, बनाना इन दोनों में इतना अन्तर है कि बीज से अंकुर पैदा हुआ, कुम्हार नें घड़े को बनाया इस बात को बुद्धिमान अपनेआप विचार लेंवे कि पैदाइश और बनाना इसमें भेद है यानहीं ? बनाना कोई और बात है, पैदायश कोई और बात है । इस तरहही वेदो की उत्पत्ति मानी गई है किन्तु घटादि पदार्थोंके समान वेदों की उत्पत्ति नहीं है । इसकारण वेद अपौरुषेय हैं ॥

प्रश्न—जब कि वेदों में उनही बातों का वर्णन है जो संसार में वर्त्तमान हैं तो वेदों को क्यों प्रमाण माना जाय ।

उत्तर—निजशक्त्य भिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिस वेद के ज्ञान होने से अर्थात् जानने से आयुर्वेद (वैद्यक) कला कौशल आदि सब तरह की विद्याओं का प्रकाश होता है वह वेद स्वतः (अपने आप) प्रमाण है उस में दूसरे प्रमाण की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि जो आपही दूसरों का प्रमाण है उसका प्रमाण किसको कहसकते हैं। जैसे सेर दुसेरी आदि तोलने को बांट तोलने में आपही प्रमाण हैं लेकिन सेर दुसेरी आदि बांट क्यों प्रमाण हैं ऐसा प्रश्न नहीं होसकता क्योंकि वह तो स्वतः प्रमाण हैं इसही तरह वेदों को भी स्वतः प्रमाण समझना चाहिये । पहिले जो ४१ वें सूत्र में नास्तिक ने यह पूर्वपक्ष करा था कि वेदों का अर्थ नहीं होसकता उस का उत्तर पक्ष यहां पर कह आये थे और फिर भी उस को ही दृष्टांत द्वारा सावित करते हैं ॥

नासतः ख्यानंनृशृंगवत् ॥५२॥

अर्थ—जैसे कि पुरुष के सींग नहीं होते इसही तरह जो पदार्थ है ही नहीं उसका कहना भी फजूल है जैसे कि बन्ध्या स्त्री का पुत्र जब कि बन्ध्या स्त्री के पुत्र होताही नहीं तो ऐसा कहना भी फजूल है । यदि इस तरह वेदों का भी कुछ अर्थ न होता तो वृद्ध लोग परम्परा से (एक को एक ने पढाया) क्यों शिष्यों को पढाकर प्रसिद्ध करते । इससे सावित होता है कि वेदो का अर्थ है।

नसतोवाधदर्शनात् ॥५३॥

अर्थ—जो पदार्थ सत् है उसका बाध

किसी सूरत नहीं होसकता और वेद सत् मानेगये हैं इस वास्ते ऐसा कहना नहीं बनसकता कि वेदार्थ नहीं है।

प्रश्न—वेदार्थ है या नहीं ऐसा जगड़ा क्यों किया जाय यही न कह दिया जावे कि वेद का अर्थ है तो लेकिन अनिर्वचनीय है।

नानिर्वचनीयस्य तदभावात्५४

अर्थ—वेद के अर्थ को अनिर्वचनीय (जो कहने में न आवे) कहना ठीक नहीं क्योंकि संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं दीखता जो अनिर्वचनीय हो। और उसही पदार्थ को कह सकते हैं जो संसारमें मौजूद हैं इस वास्ते अनिर्वचनीय कहना ठीक नहीं है।

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—अन्यथा ख्याति भी नहीं कहसकते क्योंकि ऐसा कहने पर अपने ही कथन मे दोष प्राप्त होता है। इस सूत्र का अभिप्राय (मतलब) यह है कि वेद का अर्थ दूसारा है लेकिन संसार में दूसरी तरह प्रचलित होरहा है इस तरह की अन्यथा ख्याति करने पर यह दोष होता है कि जो मनुष्य वेद का अर्थ ही न मान कर अनिर्वचनीय कहते हैं वह अन्यथा ख्याति को क्यों मान सकते हैं ऐसा कहना उनके वचन से ही विरुद्ध होगा।

प्रश्न—अन्यथा ख्याति किसको कहतेहैं।

उत्तर—पदार्थ तो दूसरा हो और अर्थ दूसरी तरह किया जाय जैसे सीप में चांदी का आरोप करना अर्थात् चांदी साबित करनी।

सदसत् ख्यातिर्वाधा बाधात्५६

अर्थ—यदि ऐसा माना जाय कि वेदों का अर्थ है भी और नहीं भी है क्योंकि जो संसार के कार्यों में चतुर नहीं हैं उनको वेद के अर्थ का बाध होता है और जो सांसारिक कार्यों में चतुर हैं उनको अबाध होता है इस तरह स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, है या नहीं इस तरह जैनों के मत के अनुसार ही माना जाय तो भी ठीक नहीं। इस सूत्र में पहिले सूत्र से नकार की अनुवृत्ति आती है। नासतःख्यानं न शृंगवत्। इस सूत्र से लेकर ५६ वें सूत्र तक जो अर्थ विज्ञान भिक्षु ने करा है और गुणादीनां नात्यन्त बाधः इस सूत्र के आशय से मिलाया है वह ठीक नहीं क्योंकि वैसा अर्थ करने से प्रसंग में विरोध आता है दूसरे यह कि इस ५६ वें सूत्र को जो कपिल मुनि के सिद्धान्त पक्ष में रखकर गुणों का बाध और अबाध दोनों ही माने हैं वह भी ठीक नहीं क्योंकि न तादृक् पदार्थो प्रतीतेः इस सूत्र में आचार्य पहले ही कह चुकेहैं कि असत् और सत्इनदोनोंधर्म्मोंवाला कोई पदार्थ संसार में नहीं दीखता तो क्या आचार्य भी विज्ञान भिक्षु के समान ज्ञान रहित थे जो अपने पूर्वा पर कथन को ध्यान में न रखकर गुणोंको सत् और असत् दोनों रूपों सें कहते यहां तक वेदों की उत्पत्ति और नित्यता को साबित कर चुके। अब शब्द के सम्बंध में विचार करते हैं।

प्रतीत्य प्रतीतिभ्यांनस्फोटात्मकः शब्दः ॥ ५७ ॥

अर्थ—जो शब्द मुख से निकलता है उस शब्द के सिवाय जो उस शब्द में अर्थ

के ज्ञान कराने वाली शक्ति है उसे स्फोट कहते हैं। जैसे कि किसी ने कलस शब्द को कहा तो उस कलस शब्द के उच्चारण होने से कम्बुग्रीवादि कपालों का जिस शक्ति से ज्ञान होता है उसका ही नाम स्फोट है। इससे ऐसा न समझना चाहियेकि कलस इतना शब्द मुख से निकलते ही कम्बु ग्रीवा वाला जो पदार्थ है उसका ही नाम कलस है किन्तु जिस शक्ति से उसका ज्ञान होता है उसी का नाम स्फोट कहलाता है किन्तु स्फोटात्मक शब्द नहीं होसकता क्योंकि इस में दो तरह के तर्क पैदा होसकते हैं कि शब्दकी प्रतीति होती है। या नहीं यदि प्रतीति होतीहै तो जिस अर्थवाले अक्षर समुदाय से पूर्वा पर मिला कर अर्थ प्रतीत और वाच्य (कहने लायक) वस्तु का बोध (ज्ञान) है उसके सिवाय स्फोट को मानना फजूल है। क्यों कि शब्दसे ही अर्थ ज्ञान हुआ स्फोट से नहीं। और यदि यह कहो कि शब्द की प्रतीति नहीं होती तब अर्थ ही नहीं। फिर स्फोट में ऐसीशक्ति कहां से आई जो बगैर अर्थ के अर्थ की प्रतीति करासके इस सबब स्फोट का मानना फजूल है।

प्रश्न—नशब्दनित्यत्वं कार्यता प्रतीतेः ॥ ५८ ॥

अर्थ—शब्द नित्यनहीं होसकता क्योंकि उच्चारण के बाद शब्द नष्ट होजाता है जैसे कि ककार उत्पन्नहुआ उच्चारणाव सान में फिर नष्ट होगया इत्यादि अनुभवों से साबित होता है कि शब्द भी कार्य है।

उत्तर—पूर्व सिद्धसत्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनैवघटस्य ॥ ५९ ॥

अर्थ—जिस शब्द का होना पहिले ही से साबित है उस शब्द का उच्चारण करने से प्रकाश होता है उसकी पैदाइश नहीं होती है। दृष्टान्त जैसे कि अंधेरे स्थानमें रक्खे हुये पात्र को दीपक प्रकाश करदेता है ऐसा नहीं कहसकते कि दिये नें पात्र को पैदा कर दिया क्योंकि पात्र तो पहिले से ही वहां मौजूद था अंधकार के सबब उसका ज्ञान (मालुम होना) नहीं होताथा। इसही तरह शब्द भी पहले से सिद्ध हैं उच्चारण करनेसे सिर्फ उनका प्रकाश होता है। इस वास्ते शब्द नित्य हैं।

सत्कार्य सिद्धान्तश्चेत् सिद्ध साधनम् ॥ ६० ॥

अर्थ—यदि ऐसा कहा जाय कि कार्य जिस अवस्था में दीखता है उसही अवस्था में सत् है बाकी और अवस्थाओं में असत् है इसही तरह शब्द भी कार्य है—और अपनी अवस्था में सत् है ऐसा मानेगे तो आचार्य कहते हैं कि ऐसा मान ने पर हम शब्द के सम्बन्ध में सिद्ध साधन मानेगे अर्थात् जो शब्द पहिले हृदय में था उसी को उच्चारण आदि क्रियाओं से स्पष्ट किया है किन्तु घटादि पदार्थों के समान बनाया नहीं है। यहां तक शब्द बिचार समाप्त हुआ। अब इस विषय का बिचार करेंगे कि जीव एक है वा अनेक हैं।

नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेद प्रतीतेः ॥ ६१ ॥

अर्थ—जीव एक नहीं है किन्तु अनेक हैं

इस सूत्र का यह भी अर्थ है। जीव और ईश्वर इन दोनों का अभेद मानकर जो अद्वैत माना जाता है वह ठीक नहीं है क्योंकि जीव के जो अल्पज्ञत्वादि चिन्ह हैं और ईश्वर के जो सर्वज्ञत्वादि चिन्ह हैं उनसे दोनों में भेद ज्ञात (मालूम) होता है।

नानात्मनापि प्रत्यक्ष बाधात् ६२

अर्थ—अनात्म जो सुख दुःखादिकों के भोग हैं उनसे भी यही बात सिद्ध होती है कि जीव एक नहीं है क्योंकि एक मान ने से प्रत्यक्ष में विरोध की प्राप्ति होती है और संसार में दीखता भी है कि सुख दुःख अनेक व्यक्ति एक समय में भोग करते हैं। दूसरे पक्ष में ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जो मनुष्य एक आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं मानते उनके सिद्धान्त में पूर्वोक्त दोष के सिवाय और एक दोष यह भी प्राप्त होजायगा कि घटादि कार्य्यों को भी आत्मा मान कर उसके नाश होतेही आत्मा भी नाशमान न होगा यह प्रत्यक्ष से बिरोध होगा इस वास्ते ऐसा अद्वैत मानना ठीक नहीं है।

नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३ ॥

अर्थ—आत्मा और अनात्मा इन दोनोंकी एकता है ऐसा कहना भी योग्यनहीं क्योंकि उसी प्रत्यक्ष प्रमाण में बाधाप्राप्त होजायगी। और संसार में यह बात साफ २ दीख रहीहै कि आत्मा और अनात्मा दो पदार्थ जुदे २ हैं इसवास्ते ऐसा कहना कि एक आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है योग्य नहीं।

प्रश्न—अगर तुम ऐसा मानते हो कि आत्मा और अनात्मा जुदे २ पदार्थ हैं तो श्रुतियां ऐसा क्यों कहती हैं कि एक मे वाद्वितीयं ब्रह्म, आत्मै वेदं सर्वम् (एकही ब्रह्म अद्वितीय है) (यह सब आत्मा ही है) इत्यादि श्रुतियां एक आत्मा बताती हैं तो बहुत से आत्मा या जीव ब्रह्म अलाहिदा २ क्यों मानेजांय।

अन्य परत्वम विवेकानांतत्र ६४

अर्थ—इन श्रुतियों में अन्य परत्व अर्थात् अद्वैत है ऐसा ज्ञान अज्ञों को होता है औरजो विद्वान् हैं वह इन श्रुतियों का ऐसा अर्थनहीं करते हैं क्योंकि अद्विती शब्द से यह प्रयोजन है कि ईश्वर के समान दूसरा और कोई नहीं है। और जो एक आत्मा मानते हैं उनके मतमें संसार का उपादान कारण ठीक नहीं होसकता।

नात्म विद्या नोभयं जगदुपादान कारणं निःसंगत्वात् ६५

अर्थ—इसकारण आत्मा जगत् का उपादाम कारण नहीं होसकता कि वह निर्विकार है। अगर अविद्या को संसार का उपादान कारण माने तो अविद्या भी संसार का उपादान कारण नहीं होसकती क्योंकि सत्मानै तो द्वैतापत्ति प्राप्त होतीहै और असत् मानने पर वंध्या के पुत्र के सदृश (समान) अभाव वाली होजायगी। और आत्मा तथा—अविद्या यह दोनों मिलकर संसार का उपादान कारण इसप्रकार नहीं होसकते कि आत्मा संग रहित है इसवास्ते ही जो एक आत्माके सिवाय और कुछ नहीं मानते उनके मतमें संसार का उपादाम कारण सिद्ध नहीं हो सकता है।

नैकस्यानन्द चिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—वेदादि सत् शास्त्र ईश्वर को सच्चिदानन्द कहकर पुकार रहे हैं और जीवमें आनन्द और चिद्रूप नहीं है इस वास्ते ईश्वर औरजीव इन दोनों में भेद है।

प्रश्न—जीव में आनन्द तो मानाही नहीं गया है तो मुक्ति का उपदेश क्यों कहा क्यों कि मुक्ति अवस्था में दुःखों के दूरहोजानेपर आनन्द होताही है ॥

दुख निवृत्तेर्गौणः ॥ ६७ ॥

अर्थ—मुक्ति होनेपर दुःख दूर होजातेहैं ऐसा कहना गौण है यद्यपि मुक्ति होने पर दुःख दूरहोजाते हैं लेकिन कर्मों की वासना तो जीव में उस वख्त भी बनी रहती है इस वास्ते फिर भी दुःख पैदा होने का भय बनाही रहता है इस कारण जीव हमेशा आनन्द नहीं रहता है अतः जीव को आनन्द स्वरूप नहीं कह सकते। आनन्द स्वरूप तो ईश्वर को ही कहसकते हैं ॥

प्रश्न—जबकि आप की मुक्ति ऐसी है कि जिसके होने पर भी फिर कुछ दिनों के बाद दुःख पैदाहोनेकी संभावना बनीरहतीहै तो ऐसी मुक्ति से बद्ध रहनाही अच्छा है।

विमुक्ति प्रशंसा मन्दानाम्। ६८।

अर्थ—विमुक्त (बद्धरहना) की तारीफ मूर्ख लोग करते हैं न कि विद्वान् लोग। कोई २ मनको नित्य मानते हैं उनके मत का भी खंडन करते हैं ॥

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ ६९ ॥

अर्थ—मनव्यापक नहीं है क्यों कि मन को इन्द्रिय और कारण माना है।

प्रश्न—करण किस को कहते हैं ॥

उत्तर—जिसके जरिये से जो अपने कार्यकरने में तयार हो जैसे कि मनके जरिये से इन्द्रियां अपने कार्यों को करती हैं ॥

सक्रियत्वात् गतिश्रुतेः ॥ ७० ॥

अर्थ—मनक्रिया वाला है इस वास्ते मन हरएक इंद्रियों के व्यापार और प्रवृत्ति का हेतु है गतिवाला भी है ॥

प्रश्न—यदि मनको नित्य नहीं मानते तो मत मानों लेकिन निर्विभाग, कारण रहित तो मानना होगा ॥

उत्तर—न निर्भागत्वं तद्योगात् घटवत् ॥ ७१ ॥

अर्थ—जैसे घट आदि पदार्थ मृत्ति का (मिट्टी) के कार्य हैं इसही तरह मनभी किसी का कार्य जरूर है। जब किकार्य निश्चय होगया तो उसकोकारण योगभी जरूरहोगा।

प्रश्न—मन नित्य है या अनित्य।

उत्तर—प्रकृति पुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—प्रकृत्ति और पुरुष के सिवाय जो अन्य पदार्थ हैं वह सब अनित्य हैं इस कारण से मन भी अनित्य है ॥

प्रश्न—प्रकृत्ति और पुरुष इन दोकोही नित्य क्यों माना है।

उ०—नभागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो आप ही कारण रूप है उस का और कोई कारण नहीं होसकता उसको तो सबही कारण रहित मानते चले आये हैं इस कारण प्रकृति पुरुष दोनों नित्य हैं।

प्रश्न—पुरुषकी मुक्ति क्यों मानी गई है।

नानान्दा भिव्यक्तिर्मुक्तिर्नि-र्धर्मत्वात् ॥ ७४ ॥

अर्थ—प्रधान जो प्रकृति है उसको आनन्द की अभिव्यक्ति (ज्ञान) नहीं होसकती इस सबब उसकी मुक्ति भी नहीं कह सकते। क्योंकि आनन्द प्रधान का धर्म नहीं है किन्तु जीव का है ?।

न विशेष गुणो च्छित्तिस्त-द्वत् ॥ ७५ ॥

अर्थ—सत्व रज तम इनके नाश होने को ही अगर मुक्ति माना जाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि उक्त सत्वादि तीन गुण प्रधान के स्वाभाविक धर्म हैं उनका नाश होना प्रधान का धर्म नहीं है इस, वास्ते उसकी मुक्ति नहीं मानी जाती।

न विशेषगति निष्क्रियस्य ७६

अर्थ—अगर विशेष गति ऊपर नीचे का जाना आना अर्थात् ब्रह्म लोक की प्राप्ति इत्यादिक को ही मुक्ति मानें सो भी नहीं होसकती क्योंकि प्रधान तो निष्क्रिय अर्थात् क्रिया शून्य हैं जो कुछ उस में क्रियां दीखती हैं वह सब पुरुष के संसर्ग (मेल) से हैं लेकिन आप ऐसी शक्ति को नहीं रखता।

नाकारो परागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥ ७७ ॥

अर्थ—अगर आकार के सम्बन्धको छोड देना ही मुक्ति मानें सो भी ठीक नहीं। क्योंकि इस में क्षणिकत्वादि दोष प्राप्त होते हैं। इस सूत्र का खुलासा यह है। प्रकृति का आकार घडा है उसका जो फूट जाना है उसको ही प्रकृति की मुक्ति मान लिया जाय सो यह कथन कुछ अच्छा नहीं है क्योंकि क्षणिकत्वादि सैकड़ों दोष प्राप्त होजांयगे ऐसा मानने से ? जैसे कि कोई घडा इस क्षण में टूट गया और फिर इसी क्षण में दूसरा बनगया तो इत्यादि कारणों से प्रधान की मुक्ति कैसे होसकती है।

न सर्वोच्छित्ति पुरुषार्थत्वादि दोषात् ॥ ७८ ॥

अर्थ—सब को छोड देना भी मोक्ष नहीं होसकता यदि प्रधान सम्पूर्ण (सब) सृष्टि आदि रचना को छोड दे तो भी उसकी मुक्ति नहीं होसकती क्योंकि प्रधान के सब कार्य पुरुष के वास्ते हैं।

एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥

अर्थ—यदि सब को छोड देना ही प्रधान की मुक्ति का लक्षण मान भी लिया जाय तो वह मुक्ति शून्य रहेगी क्योंकि आनन्द न रहेगा तो फजूल है इस वास्ते ऐसा न माना जाय।

प्रश्न—पुरुष के साथ रहने वाली प्रकृति किसी स्थान में पुरुष को छोड दे इसको ही मुक्ति क्यों न माना जाय।

उत्तर—संयोगाश्च वियोगान्ता इतिनदेशादिलाभोऽपि ८०

अर्थ—जिस का संयोग होता है उसका वियोग तो निश्चयही होगा फिर किसी स्थान में जाकर छोडा तो क्या मुक्ति होसकती है किसी सूरत नहीं। इसही तरह जब प्रकृति और पुरुष का संयोग है तो वियोग भी जरूर होगा फिर उसमें देश की क्या जरूर-

त है क्योंकि स्थान के प्राप्त होने से मुक्ति तो होही नहीं सकती ।

नभागियोगो भागस्य ॥ ८१ ॥

अर्थ—प्रधान के भाग (अंश) जो महत्तत्वादिक हैं उनका भागी (प्रधान) में मिल जाना ही मुक्ति है सो भी नहीं होसकता क्योंकि वह तो उसमें मिलते ही हैं ।

नाणिमादि योगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्ते रितरयोगवत् ॥ ८२ ॥

अर्थ—पुरुषके योगसे अणिमादि ऐश्वर्यों का योग होना भी प्रधान की मुक्ति का लक्षण नहीं होसकता क्योंकि जिसका योग है उसका वियोग तो जरूरही होगा । जैसा कि दूसरे पदार्थों में मालूम होता है ।

नेन्द्रादिपदयोगोऽपितद्वत् ॥८३॥

अर्थ—पुरुष के संयोग से इंद्रादि पदकी प्राप्ति का होना प्रधान की मुक्ति का लक्षण नहीं होसकता क्योंकि वह सब नाशवान् हैं अत्र अहंकारिकत्व श्रुतेर्नभौतिकानि इससूत्र में जो वात सूक्ष्म रीति से कही है उसको कहते हैं ।

नभूता प्रकृतित्वमिन्द्रियाणा माहंकारिकत्व श्रुतेः ॥ ८४ ॥

अर्थ—जो बात पृथिवी आदि भूतों में मौजूद है वह बात इंद्रियों में नहीं दीखती इस वास्ते इंद्रियों को भौतिक नहीं कहसकते किंतु अहंकार से पैदा हुई हैं ।

प्रश्न—सांख्य के मत के अनुसार प्रकृति और पुरुष का ज्ञान होना ही मुक्ति का हेतुहै किंतु वैशेषिकादिकों ने जो छः पदार्थ माने हैं उनके ज्ञान से मुक्ति क्यों नहीं होसकती ।

नषट् पदार्थ नियमस्त द्बोधा न्मुक्तिः ॥ ८५ ॥

अर्थ—पदार्थ छः ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं । किंतु पदार्थ असंख्य (सैकड़ों हैं) अंतएव जाननेके वास्ते असंख्य पदार्थहैं तो छः पदार्थों के जाननेसे मुक्ति नहीं होसकती ।

षोडशादिष्वप्येवम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—गौतमादिकों ने जो १६ सोलह पदार्थ माने हैं और जिन जिन महार्षियोंने २५ पच्चीस पदार्थ माने हैं उनके जान लेनेसे भी मुक्ति नहीं होसकती क्योंकि पदार्थ तो असंख्य हैं ।

प्रश्न—वैशेषिकादिकों का मत क्योंदूषित माना गया है क्योंकि वह वैशेषिकादिक पृथिवी आदिके अणुओं को नित्य मानते हैं ।

उ०—नाणु नित्यतातत्कार्यत्वश्रुतेः ॥ ८७ ॥

अर्थ—पृथिवी आदि के अणुओं को नित्यता किसी सूरत प्राप्त नहीं होसकती क्योंकि श्रुतियां उनको कार्य रूप कहती हैं और एक युक्ति भी है । जब पृथिवी आदि साकार है तो उनके अणु भी साकार होसकते हैं । जब साकारता प्राप्त हो गई तो किसी का कार्यभी जरूर हुये इसकारण पृथिवी आदि के अणुओं को नित्य नहीं कह सकते ।

प्रश्न—आप अणुओं को नित्य नहीं मानते तो मतमानों लेकिन उनका कोई कारण नहीं दीखता इस वास्ते उनको कारण रहित मानना चाहिये ।

उत्तर—न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥ ८८ ॥

जबकि अणु कार्य हैं तो कारण रहित कैसे हो सकते हैं क्योंकि जो कार्य है उस का कारण भी जरूर ही कोई न कोई होगा।

प्रश्न—जबकि प्रकृति और पुरुष दोनोंही आकार रहित हैं तो उनका प्रत्यक्ष कैसे होसकताहै। क्योंकि जबतक रूप न होगा तब तक प्रत्यक्ष नहीं होसकता।

उ०—न रूपनिर्बंधात् प्रत्यक्षनियमः ॥ ८९ ॥

अर्थ—रूपके बिना प्रत्यक्ष नहीं होता यह कोई नियम नहीं है क्यों कि जो बाहर की चीज है उस के देखने के वास्ते अवश्य मेव इन्द्रिय से योग की जरूरत रहती है। लेकिन जो ज्ञान से जाना जाता है उस का रूपवान् होने की कोई जरूरत नहीं है और नास्तिक लोग जो यह बात कहते हैं कि साकार पदार्थ काहीप्रत्यक्ष होता है निराकार का नहीं होता यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जब नेत्र आदि इन्द्रियों में दोष होजाता है तब सामनें रक्खे हुये घटपटादि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता इससे साबित होता है कि पदार्थ का स्वरूप होना प्रत्यक्ष होने में नियम नहीं किन्तु इन्द्रियों की स्वच्छता हेतु है।

प्रश्न—आपने जो अणुओं को कार्य रूप कहकर अनित्य सिद्धकिया तो क्याअणु कोई वस्तु आप के मतमें है यानहीं इसपर आचार्य अपना मत दिखाते हैं ॥

नपरिमाण चातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ॥ ९० ॥

अर्थ—जो मनुष्य अणु महत् दीर्घ ह्रस्व यह चार भेद मानकर परिमाण चार तरह के मानते हैं ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस बात के सिद्ध करने को चार प्रकार के परिमाण मानते हैं वह बात अणु और महत् इन दो तरह के परिमाणों से भी सिद्ध होसकती है दीर्घ और ह्रस्व यह दो परिमाण महत् परिणाम के अवान्तर (भीतर रहने वाला) भेद हैं। यदि गिनतीही बढानी मनजूर है तो एक तिरछा अणु एक सीधा अणु ऐसेंही बहुत से भेद होसकते हैं लेकिन ऐसा होना ठीक नहीं। और हमने जो अणुओं को अनित्य प्रतिपाद करा था वह सिर्फ वैशेषिकादि के मतको दोष युक्त ठहराने के वास्ते पृथिवी आदि के अणुओं को अनित्य कहा था किन्तु अणु परिमाण द्रव्यों को अनित्य नहीं प्रतिपादन करा था क्योंकि हम भी तो अणु नित्य मानते हैं ॥

प्रश्न—जब प्रकृति और पुरुष के सिवाय सबको अनित्य कहा तो प्रत्यभिज्ञा किसी तरह होसकती है क्योंकि जब सब पदार्थों को नाशवान् मानलें गे तब प्रतिभिज्ञा नहीं होसकती। प्रत्यभिज्ञा लक्षण पहले अध्याय में कहआये हैं ॥

अनित्यत्वेऽपि स्थिरता योगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥ ९१ ॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति और पुरुष के सिवाय जितने सामान्य पदार्थ हैं वह सबही अनित्य हैं तथापि हम उनको स्थिर मानते हैं लेकिन क्षणिक वादियों के समान हरएक क्षण में परिवर्त्तन (लौटना अर्थात् उलट फेर) शील नहीं मानते हैं इस वास्ते प्रतिभिज्ञा होसकती है ॥

नतदप लापस्तस्मात् ॥ ९२ ॥

अर्थ—अतएव सामान्य पदार्थ कुछ न रहा ऐसा नहीं कहा जासक्ता। किन्तु ऐसा कहा जासकता है सामान्य पदार्थ नित्य नहीं है।

नान्य निवृत्ति रूपत्वं भावप्रतीतेः ॥ ९३ ॥

अर्थ—सामान्य पदार्थों को अनित्य नहीं कहसकते हैं। क्योंकि उनकी मौजूदगी दीखती है आशययह है किजब अचार्य प्रकृति और पुरुष के सिवाय सब को अनित्य मानते हैं तो प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी। उस शंका को दूरकरने के वास्ते यह सूत्र कहा गयाहै कि सामान्य पदार्थ किसी सूरत अनित्य नहीं होसकते हैं क्यों कि वहभी दीखतें हैं॥

प्रश्न—प्रत्यभिज्ञा के वास्ते जो समान्य पदार्थों को स्थिर माना गयाहै उनको स्थिर मानने की क्या जरूरत है क्योंकि जिस पदार्थ में प्रत्यभिज्ञा होती है उस तरह के दूसरे पदार्थ में भी प्रत्यभिज्ञा होसकती है जैसे कि किसी वक्त में घडे को देखा था कुछ दिनों के बाद उसी सूरत का एक घडा और देखा उस में भी यही बात घटसकतीहै कि जो घडा पहले देखा था वोही यह है क्योंकि घडे तो दोनों एक ही सूरत के हैं॥

उ०—न तत्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षो पलब्धेः ॥ ९४ ॥

अर्थ—एक घडे के समान दूसरा घडा प्रत्यभिज्ञा का कारण नहीं होसकता क्योंकि यहबात तो प्रत्यक्षही से दीखती है कि जो घडा पहिले देखा था उसमें और जो अब देखा है इस में फर्क है। इस वास्ते सदृश (समान) पदार्थ प्रत्यभिज्ञा का कारण नहीं है इस सबब सामान्य पदार्थ और उन को स्थिरता माननी पड़ेगी॥

प्रश्न—जो शक्ति पहिल देखेहुये घडे में है वही शक्ति इस समय दीखते हुये घडे में है उस शक्ति केही प्रकाश होनेसे प्रत्यभिज्ञा क्यों न मानी जाय क्योंकि सब घडे एकही शक्तिवाले होते हैं इस वास्ते दूसरे घडे के देखने से प्रत्यभिज्ञा को माननाही चाहिये॥

निजशक्त्याभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः ॥ ९५ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थों की शक्ति का प्रकाश होना प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं होसकता क्यों कि यहबात तो अर्थापत्ति से सिद्ध है। यदि सब घडों में समान (बराबर) शक्ति न होती तो उनका घडानाम क्यों होता इस वास्ते समान आकृति और समान शक्ति प्रत्यभिज्ञा का हेतु नहीं होसकती। किन्तु वही पदार्थ जो पहले देखा है दूसरी बार के देखने से प्रत्यभिज्ञा का हेतु होसकता है इस बात से सिद्ध होगया कि सामान्य पदार्थ अनित्य होने परभी स्थिर हैं। और इसी से प्रत्यभिज्ञा भी होती है॥

प्रश्न—एक घडेमें जो संज्ञा (नाम) संज्ञी (नामवाला) संबंध है वोही संबंध दूसरे घडे में भी है फिर उस में प्रत्यभिज्ञा क्यों नही होती॥

नसंज्ञा संज्ञी सम्बन्धोऽपि ९६

अर्थ—संज्ञा संज्ञी का सम्बन्ध भी प्रत्यभिज्ञा में हेतु नहीं होसकता क्यों कि यह

भी अर्थापत्ति से जानी जासकतीहै कि संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध सब घडोंमें बराबर हैं। परन्तु इतने पर भी अनेक घडों में अनेक भेद रहते हैं इस सवत्र प्रत्यभिज्ञा नहीं होसकती। और संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध होने पर भी दूसरा पदार्थ प्रत्यभिज्ञा का हेतु नहीं होसकता क्यों कि ॥

नसंबंध नित्यतो भयानित्य त्वात् ॥ ९७ ॥

अर्थ—घटादि पदार्थों का सम्बन्ध नित्य नहीं है। क्योंकि संज्ञा और संज्ञी यह दोनों अनित्य हैं। खुलासा यह है कि। जो घडा घट नाम से पुकारा जाता था उस घडे के नाश होतेही उसकी संज्ञा का भी नाश हो जाताहै क्योंकि उस घडे के टूटने पर उसको फिर घडा नहीं कह सकते हैं किंतु कपाल (ठीकड़ा) कह सकते हैं। जबकि फिर दूसरा घडा नजर आया तो उसकी दूसरी घट संज्ञा हुई। दूसरी घट संज्ञा के होने से बराबरता कहां रही जब बराबरता ही नहीं है तो प्रत्यभिज्ञा कैसी क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञा उसी पदार्थ में होती है जिसको कभी पहले देखा हो। और जो घडा पहिले देखा था उसका तो नाशहोगया जिसको अब देख रहे हैं वह दूसराहै तो वह पहिले देखा हुआ नहीं हो सकता इसी से प्रत्यभिज्ञा भी नहीं हो सकती।

प्रश्न—सम्बन्धी अनित्यहो लेकिन संबन्ध तो नित्यही मानना चाहिये।

उ०—नातः सम्बन्धो धर्मि ग्राहकमान बाधात् ॥९८॥

अर्थ—जबकि संज्ञा संज्ञी दोनोंही अनित्य सिद्ध हुये तो उनका सम्बन्ध कैसे नित्य होसकता है क्योंकि सम्बन्ध जिन प्रमाणों से सिद्ध होता है उनसे ऐसा कहना सिद्ध नहीं होसकता कि सम्बन्धी चाहे अनित्य हो लेकिन सम्बन्ध को नित्य मानना चाहिये। आशय यह है। यह बात किसी सूरत ठीक नहीं होसकती कि सम्बन्धी तो अनित्य हो और सम्बन्ध नित्य हो।

प्रश्न—गुण और गुणी का नित्य समवाय सम्बन्ध शास्त्रोंसे सुना जाताहै और वास्तव में वह दोनों अनित्य हैं यह कैसे ठीक हो-सकता है।

नसमवायोऽस्ति प्रमाणा भावात् ॥ ९९ ॥

अर्थ—समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है प्रमाण के न होने से।

उभयत्राप्यन्यथा सिद्धेर्नप्र-त्यक्ष मनुमानंवा ॥ १०० ॥

अर्थ—घडा मिट्टी से बना है वा बनाहोगा इनदोनों तरह के ज्ञानोंमें अन्यथा सिद्धि है इसवास्ते समवाय को मानने की कोई जरूरत नहीं। इससूत्र का खुलासा भावयह है। कि घट का उपादान कारण मिट्टी है और यह बात प्रत्यक्ष दीखती है। कि मिट्टीसे ही घडा बनता है और अनुमान भी करा जाता है इस प्रकार यहभी उक्त (कहे हुये) प्रमाणों से सिद्ध (साबित) हुआ कि बगैर मिट्टी के घडा नहीं बनसकता है इसवास्ते घट और मिट्टीका सम्बन्ध हुआ लेकिन समवाय कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न—यदि समवाय सम्बन्ध न माना जाय तो दो कपालों का संयोग (मेल) घट

की पैदाइश में हेतुहोताहै। उसकोक्या कहैंगे औरइस बातको कैसे जानैंगे कि दो कपालों का संयोगघटकी पैदायशमें हेतुहै.जिनदो अव-यवों (टुकडोंके) मिलनेसे घडाबनताहै उनको कपाल कहते हैं।

नानुमेयत्वमेव क्रियायाने दिष्ठ स्यतत्तद्धतोरेवापरीक्षप्रतीतेः॥१०१॥

अर्थ—क्रिया और क्रिया वाले का संयोग होकर घट पैदा होता है इस बात के जानने के लिये अनुमान की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि धोरे रहने वाले कुमार की प्रत्यक्ष क्रिया को देखकर ही जान लेते हैं कि दो कपालों के मिलने से घट पैदा होता है इस वास्ते जब तक वह घडा मौजूद रहेगा तब तक सम्बन्ध भी जरूर रहेगा इस के वास्ते समवाय सम्बन्धके माननेकी कोई जरूरतनहीं है। दूसरे अध्याय में यह मतभेद कह चुके कि शरीर पांच भौतिक हैं अब उन मतों की सत्या सत्यता देखाते हैं कि वह मत सच्चे हैं या झूंटे।

न पांच भौतिकं शरीरं वहूना मुपादाना योगात् ॥ १०२ ॥

अर्थ—शरीर पांच भौतिक नहींहै अर्थात् पृथिवी जल तेज वायु आकाश से शरीर की उत्पत्ति नहीं है क्योंकि बहुत से पदार्थ एक पदार्थ के उपादान कारण (जो जिससे बने जैसे मिट्टी से घट बनता है) नहीं होसकते इस सबब शरीर को सिर्फ पार्थिव (पृथिवी से बना हुआ) ही मानना चाहिये और जो अग्नि आदि चार भूत इसमें कहे जाते हैं वह सिर्फ नाम मात्र को ही हैं। कोई कोई स्थूल शरीर को ही मानते हैं उसका भी खंडन करते हैं।

न स्थूल मिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्१०३

अर्थ—स्थूल शरीर ही है ऐसा कोई नियम भी नहींहै क्योंकि आति वाहिक अर्थात् लिंग शरीर भी मौजूद है अगर लिंग शरीर को न माना जाय तो स्थूल शरीर में गमनादि क्रिया ही नहीं होसकती इस बात को तीसरे अध्याय में खूब खुलासा कर के कह आये हैं जैसे तेल बत्ती रूपसे पैदा हुई दिये की शिखा सम्पूर्ण (सब) घर का प्रकाश कर देती है इसही तरह लिंग शरीर भी स्थूल शरीर को अनेक व्यापारों में लगाता है। और इस बात को भी पहिले कह आये हैं कि इन्द्रियां गोलकों से अतिरिक्त हैं इस के साबित करने को ही इन्द्रियों की शक्ति कहते हैं।

ना प्राप्त प्रकाशकत्व मिन्द्रिया णामप्राप्तेः सर्व प्राप्तेर्वा ॥१०४॥

अर्थ—जिस पदार्थ का इन्द्रियों से कोई भी ताल्लुक नहीं है उसको इन्द्रियां प्रकाश नहीं कर सकती यदि करसकतीहैं तो देशान्तर (दूसरी जगह) में रक्खी हुई वस्तु का भी प्रकाश करना साबित होजायगा लेकिनऐसी बात न तो नेत्रों से देखी और न कानोंसे सुनी। इस सूत्रका खुलासा भाव यह है कि इन्द्रियां उसही पदार्थ को प्रकाश कर सकती हैं कि जिस से उनका संबन्ध होता है सम्बन्ध रहित के प्रकाश करने में उनकी शक्ति नहीं है। यदि इन्द्रियों में यह शक्ति

होती कि बगैर सम्बन्ध वाले पदार्थ को भी प्रकाश कर दिया करतीं तो देशान्तर के पदार्थ का भी प्रकाश करना कुछ मुशकिल न होता। और जब दूसरी जगह रक्खे हुये पदार्थों का नेत्र आदि इन्द्रियों को ज्ञान हो जाया करता कि वह चीज फलानी जगह रक्खी है तो उनको सर्वज्ञता प्राप्त होसकती है इस वास्ते ईश्वर और इन्द्रियों में कुछ भेद नहीं होसकता क्योंकि ईश्वर भी सर्वज्ञ है और इन्द्रियां भी सर्वज्ञ हैं ऐसा ही कहने में आवेगा। इस कारण यही बात माननी ठीक है कि नेत्र आदि इन्द्रियां उस वस्तु का ही प्रकाश करसकती हैं जो उनको दीखती है।

प्रश्न—अपसर्पण (फैलना) तेज का धर्म है और तेज पदार्थ का प्रकाश करता है इसही तरह नेत्र को भी तेज स्वरूप मानना चाहिये क्योंकि वह नेत्र भी पदार्थ का प्रकाश करता है।

उत्तर—न तेजोऽपसर्पणात्तैजसंचक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः॥१०५॥

अर्थ—बेशक तेज में फैलने की शक्ति है लेकिन इससे चक्षु (आंख) को तेज स्वरूप नहीं कहसकते। क्योंकि जिस बात के सिद्ध करने के वास्ते नेत्र को तेज स्वरूप मानने की जरूरत है वह बात इस सूरत से भी सिद्ध होसकती है कि जो नेत्र की वृत्ति है (जिससे कि पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है) उसी से पदार्थ का प्रत्यक्ष माना जाय।

प्राप्तार्थ प्रकाश लिंगात् वृत्तिसिद्धिः॥ १०६ ॥

अर्थ—नेत्र का जिस पदार्थ से संबंध होता है उसको ही प्रकाश करता है इस से साफ २ सिद्ध होता है चक्षु की वृत्ति अर्थात् तेजस्वरूप है लेकिन नेत्र तेजस्वरूप नहीं है।

प्रश्न— जब नेत्र का पदार्थ से संबंध होता है तब नेत्र की वृत्ति शरीर को बिना छोडे उस पदार्थ पर कैसे आ पडती है।

उत्तर—भागगुणाभ्यां तत्वान्तरंवृत्तिःसम्बंधार्थंसर्पतीति॥१०७॥

अर्थ—नेत्र आदि की वृत्ति पदार्थ के संबन्ध के वास्ते जाती है इस से नेत्र का (भाग) टुकडा वा रूप आदि गुण वृत्ति नहीं हैं किंतु भाग और गुण इन दोनों से भिन्न (जुदा) एक तीसरे पदार्थ का नाम वृत्ति है। क्योंकि यदि चक्षु आदि के भाग का नाम वृत्ति होता तो एक २ पदार्थ का एक २ बार नेत्र से संबंध होने पर सहज सहज नेत्र के टुकडे होकर उसका नाश होजाना योग्य था और यदि गुण का ही नाम वृत्ति होता तो गुण जड होते हैं इस वास्ते वृत्ति का पदार्थ के साथ संबंध होते ही पदार्थ में चलाजाना नहीं होसकता था। अतः (इस कारण) भाग और गुण इन दोनों से वृत्ति भिन्न (जुदा) एक पदार्थ है।

प्रश्न— ऐसे लक्षणों के करने से वृत्ति एक द्रव्य सिद्ध होता है तब इच्छा आदि जो बुद्धि के गुण हैं उनको वृत्ति क्यों माना है क्योंकि गुणों का नाम वृत्ति नहीं होसकता।

नद्रव्य नियमस्तद्योगात्॥१०८॥

अर्थ—वृत्ति द्रव्य ही है यह नियम नहीं क्योंकि अनेक वाक्यों में ऐसे विषय पर भी वृत्ति शब्द का व्यवहार देखने में आता है जहां पर द्रव्य का अर्थ नहीं होसकता जैसे

वैश्य वृत्ति शूद्र वृत्ति इत्यादि । अतः हमने जिस विषय पर वृत्ति को द्रव्य माना है उस ही विषय पर द्रव्य है और जगह जैसा अर्थ हो वैसा ही करना चाहिये । इस बात को भी पहिले कह चुके हैं कि पांच भौतिक शरीर सिर्फ नाम मात्र ही है वास्तव में तो पार्थिव है । अब इस बात का विचार करा जाता है । जिन इन्द्रियों के आश्रय से शरीर है वह इन्द्रियां जैसे कि हम लोगों की अहंकार से पैदा हैं वैसे ही और देशों के मनुष्यों की भी अहंकार से ही पैदा होती हैं पंच भूतों से नहीं पैदा होती हैं ।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ॥ १०९ ॥

अर्थ—देश के भेद होने पर भी वस्तु का दूसरा उपादान नहीं होसकता क्योंकि जैसे हम लोग और और देशों में जाकर वास करने लगते हैं लेकिन इन्द्रियां नहीं बदलतीं इन्द्रियां वो की वहीं रहती हैं हमारा देश ही तो पलट जाता है । यदि देश भेद ही इन्द्रियों के बदलने में वा और उपादान कारण करने में हेतु होता तो हम लोगों की इन्द्रियां भी वहां जाकर जरूर बदल जातीं लेकिन ऐसा देखने में नहीं आता तो साबित होता है कि इन्द्रियां पांच भौतिक नहीं किन्तु अहंकार से पैदा हैं ।

प्रश्न—जबकि इन्द्रियों की अहंकार से पैदायश है तो भौतिक क्यों प्रति पादन करा है ।

निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः ॥ ११० ॥

अर्थ—इंद्रियों का निमित्त जो अहंकारहै उससे ही पंच भूतोंमें भी इंद्रियों का कारणत्व स्थापन किया जाता है जैसे आग यद्यपि काष्ठादिरूप नहीं है तथापि उस को लकड़ी आग इत्यादि रूपों से पुकारते हैं इसही तरह इंद्रियां भौतिक भी नहीं हैं तो भी उनको भौतिक कहते हैं । अथ स्थूल शरीर के भेदों को कहते हैं ।

ऊष्मजाण्डजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकं चेतिननियमः ॥ १११ ॥

अर्थ—ऊष्मज (जो पसीने से पैदा होते हैं जैसे लीख आदि) अण्डज (जोअण्डे सेपैदा होतेहैं जैसे मुर्गी आदि) जरायुज (जो झिल्ली से पैदा होते हैं) मनुष्य आदि उद्भिज्ज (जो जमीन को फोड़कर पैदा होते हैं पेड़आदि) सांकल्पिक (जिनको बाजीगर लोग दिखाने के वास्ते बनालेते हैं) सांसिद्धक (जो योग की क्रियाओं से बनते हैं) आचार्य (कपिलजी) नेंयही छः तरहके स्थूल शरीर माने हैं । लेकिन इनछः शरीरों के सिवाय और किसी तरहंका स्थूल शरीर नहीं है ऐसा नियम भी नहीं । क्योंकि शायद किसी देश में इन शरीरों के सिवाय औरभी किसी सूरत का स्थूल शरीर हो । आचार्य के निश्चय (तहकीकात) सेतो छहीछः तरहके स्थूल शरीर देखने में आते हैं ।

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधार

. ग्यात् तदव्यपदेशः पूर्ववत्।११२।

अर्थ—इनसब शरीरों का साधारण उपादान कारण पृथिवी है इसवास्ते इन को पार्थिव कहना योग्यहै और जोपांच भूतों का व्यपदेश (नाम) सुनाजाता है वह पूर्वकथन (पहिले कहा हुआ) के समान समझना चाहिये अर्थात् मुख्य उपादान कारण पृथिवीहै औरसबगौणहैं।

प्रश्न—इस शरीर में प्राणही प्रधान (मुख्य) है इसवास्ते प्राण कोही देहका कर्ता मानना चाहिये ।

उत्तर—न देहारम्भकस्य प्राणत्व मिन्द्रिय शक्तितस्तत्सिद्धेः ॥ ११३ ॥

अर्थ—शरीरका कर्ता प्राणनहीं होसकता क्यौंकि प्राण इन्द्रियों की शक्ति से अपने कार्यको कर्ता है और इन्द्रियों के साथ प्राण का अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्त भी होसकता है कि जबतक इन्द्रियां हैं तबतक प्राण हैं जब इन्द्रियां नाश होगईं तबप्राण भी नाश होगया इसवास्ते प्राण को देह का कारण नहीं कहसकते ।

प्रश्न—जबकि शरीर के बननेमें प्राण नहीं है तो बगैर प्राण के भी शरीर की उत्पत्ति (पैदाइश) होनी चाहिये ।

उत्तर—भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतन निर्माण मन्यथापूतिभाव प्रसंगात् ॥ ११४ ॥

अर्थ—भोक्ता (पुरुष) के व्यापारसे शरीर का बनना होसकता है यदि वह प्राणों को अपनी २ जगह न लगावे तो प्राण वायु कभी भी ठीक २ रसोंको नहीं पकासकती जबरस ठीक तरह से न पकेंगे तो शरीर में सैकड़ों तरह के रोग पैदा होजायंगे और दुर्गंधि (बास) आनेलगैगी अतएव यद्यपि प्राण कारणहै लेकिन मुख्य कारण पुरुष कोही मानना चाहिये ।

अर्थ—जोअधिष्ठानत्व (बनाने वाला पन) पुरुष में माना जाताहै वह अधिष्ठानत्वयदि प्राण मेंही मानाजावै तो क्या हानि है ।

उ०—भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिनैकान्तात् ॥ ११५ ॥

अर्थ—इसी तरह हम भी पुरुष को अधिष्ठाता मानते हैं । जैसे राजा अपने भृत्यों (नौकरो) के जरिये से मकानादिकों को बनवाता है और वह मकानादि राजा के बनायेहुये हैं इस तरह लोक में प्रसिद्धि होतेहैं और उन मकानातों का मालिक भी राजाही है। इसही तरह पुरुष भी प्राण और इन्द्रियों के जरिये से शरीर को चलाता है लेकिन अकेला आप नहीं चलता और विना उसके यह शरीर चल नहीं सकता इससे वोही अधिष्ठाता समझा जाताहै। अब इससे आगे पुरुष का मुक्ति दशा में स्वरूप आदि कहते हैं ॥

समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥ ११६ ॥

अर्थ—समाधि सुषुप्ति और मोक्ष में

पुरुष को ब्रह्मरूपता होजाती है अर्थात् जैसा ब्रह्म आनन्द स्वरूप है वैसे ही जीव भी आनन्द स्वरूप होजाता है। इस सूत्र का अर्थ और टीकाकारों ने ऐसा करा है कि समाधि सुषुप्ति मोक्ष इनतीनों अवस्थाओं में जीव ब्रह्म होजाताहै लेकिन ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है क्योंकि रूपशब्द का सदृश्य अर्थ है जैसे कि फलाना आदमी देव स्वरूपहै इसके कहने से यहमतलब निकलता है कि वह देव नहीं है किन्तु देवताओं केसे उसमें गुण हैं (विद्वा ९ सोहिदेवा) जो विद्वान् हैं उनको ही देवता कहते हैं इसबात कहभी चुके हैं। इसी से उसको देव स्वरूप कहागया यदि देवता ही कहना मंजूर होता तो फलाना आदमी देवता है इत नाहीकहना चाहियेथा इसवास्ते इसकहे हुये सूत्र में भी ब्रह्मरूप कहने से यह ही मतलब है कि जीव में ब्रह्म कैसे कितने ही गुण इन अवस्थाओं में हो जाते हैं लेकिन जीव ब्रह्म नहीं होजाता है यदि आचार्य को ही यही बात मंजूर होती कि मुक्त जीव ब्रह्म होजाता है तो ब्रह्मरूपता न कहते किंतु ब्रह्मत्वम्, ऐसा कहते। जो ब्रह्म को और जीव को एक मानते हैं उनका मत दूषित हुआ इसज्ञापकसे।

प्रश्न—जब समाधि और सुषुप्ति में भी आनन्द प्राप्त हो जाता है तो मुक्ति के वास्ते उपाय करने की क्या जरूरत है और मुक्तिमें ज्यादे कौनसी बात रही।

द्वयोःवीजमन्यत्रतद्धतिः ११७

अर्थ—समाधि और सुषुप्ति में जो आनन्द प्राप्त होता है वो थोडे ही समय के वास्ते होता है और उस में बन्धभी बना रहता है मोक्षका आनन्द बहुत समय तक बना रहता और बन्ध का भी नाश हो जाता है यहही भेद समाधि और सुषुप्ति इन दो तरह के आनन्दों में और मोक्ष में भेद है।

प्रश्न—समाधि और सुषुप्ति यह दोनों प्रत्यक्ष दीखती है लेकिन मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं दीखता इस वास्ते उसमें आनन्द न कहना चाहिये।

उत्तर—द्वयोरि वत्रयस्यापि दृष्टत्वान्नतुद्वौ ॥ ११८ ॥

अर्थ—जैसे समाधि और सुषुप्ति यह दोनों प्रत्यक्ष दीखतीहैं वैसेही मोक्ष भी प्रत्यक्ष दीखता है वह प्रत्यक्ष इस तरह होता है कि जब तक मनुष्य किसी कर्म का करके उस का फल नहीं भोग लेता है तबतक उसकर्म के साधन करने के वास्ते उसकी नियत नहीं होती। जैसे पहले भोजन कर चुके हैं तो दूसरे दिनभी भोजन करने के वास्ते उपाय किया जाता है। इसही तरह जब पहले कभी जीव मोक्ष के सुख को जान चुकाहै तब फिर भी मोक्ष सुख के वास्ते उपाय करने की नियत होती है। यदि यह कहा जावे कि इस जन्म में जिस आदमी ने कभी राज्य सुख नहीं भोगाहै लेकिन उसकी यह इच्छा रहती है कि राज्यका सुख प्राप्त हो। इसका यह उत्तर है कि राज्य में जो सुख होता है उसको तो नेत्रों से देखते हैं इससे यह साबित हुआ कि यातो मोक्ष का सुख कभी आप उठाया है अथवा किसी को मोक्ष से आनन्दित देखा है इस वास्ते उसकी मोक्ष सुखमें नियत होती है यही प्रत्यक्ष प्रमाण है और अनुमान

से इस तरह मोक्ष को जान सकता है कि सुषुप्ति में जो आनन्द प्राप्त होता है उसको नाश करनेवाले चित्त के रागादि दोष हैं और वह रागादिक ज्ञान के सिवाय और किसी सूरत नाश नहीं होसकते हैं जब ज्ञान प्राप्त होजायगा तब सुषुप्ति आदि सब अवस्थाओं की अपेक्षा जिसमें जादे समय तक आनन्द की प्राप्ति हो ऐसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

प्रश्न—समाधि में तो वैराग्य से कर्मों की वासना कमती हो जाती है इस वास्ते समाधि में तो आनन्द प्राप्त हो सकता है लेकिन सुषुप्ति में वासना प्रबल होती है तो पदार्थों का ज्ञान भी जरूर होगा अर्थात् वासनायें अपने विषय की तरफ खेंचकर उनमें जीव को लगादेंगी जब पदार्थ का ज्ञान रहा तो आनन्द प्राप्ति कैसी।

वासनयानर्थं ख्यापनं दोष योगेऽपि न निमित्तस्य प्रधान बाधकत्वम् ॥ ११९ ॥

अर्थ—जैसे वैराग्य में वासना कमती होकर अपना प्रभाव नहीं दिखासकती इसीतरह निद्रा दोषकेयोगसे भी वासना अपने विषयकीतरफ नहीं खेंच सकती क्योंकि वासनाओं का निमित्त जो संस्कार है वह निद्रा के दोष से बाधित हो चुका है इस वास्ते सुषुप्ति में भी समाधि की तरह आनन्द रहता है पहले इस बात को कह चुके हैं कि संस्कार के लेश से जीवन्मुक्त का शरीर बनारहता है।

प्रश्न—जब संस्कार से शरीर बना रहता है वह एकही संस्कार उस जीव के प्राण धारण रूपी क्रिया को दूरकरदेता है वा जुदी २ क्रियाओं के वास्ते जुदे २ संस्कार होते हैं।

एकः संस्कारः क्रिया निवर्तको नतुप्रत्ति क्रियं संस्कार भेदा बाहुल्य कल्पना प्रसक्तेः ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस संस्कार से शरीर का कार्य चलरहा है वह एकही संस्कार निवृत्त होकर शारीरक क्रियाओं को भी दूर करदेता है हरएक क्रिया के वास्ते अलाहिदा २ संस्कार नहीं मानने चाहिये क्योंकि बहुत से संस्कार हो जायंगे और उन बहुत से संस्कारों का होना फजूल है।

प्रश्न—जबकि उद्भिज्ज को भी शरीर (देहधारी) में मान चुके हो उनमें बाह्य (बाहर की) बुद्धि अर्थात् बाहर के पदार्थों के समझने का ज्ञान नहीं है तब उनका शरीर मानना फजूल है।

उत्तर—न बाह्यबुद्धि नियमो वृक्ष गुल्मलतौषधि वनस्पतितृण वीरुधादीनामपि भोक्तृ भोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥ १२१ ॥

अर्थ—जिसमें बाह्य बुद्धि होती है उस को शरीर कहते हैं यह नियम भी नहीं है। क्योंकि मृतक शरीर में बाह्य बुद्धि नहीं होती है तो क्या उसको शरीर नहीं कह सकते हैं। और वृक्ष गुल्म औषधि वनस्पति तृण वीरुध आदिकों के शरीर भी भोग के निमित्त हैं क्योंकि यदि भोगायतन न होते तो सूखना और हराहोना आदि उनमें क्यों दीखता है।

स्मृतेश्च ॥ १२२ ॥

अर्थ—शरीरजैः कर्म दोषैर्याति स्थावर तां नरः (शरीर से पैदा हुये कर्म दोषों से मनुष्य स्थावरयोनि को प्राप्त होताहै) इस बात को स्मृतियां कहती हैं इससे साबित होता है कि स्थावर भी शरीरहैं।

प्रश्न—जबकि वृक्ष आदिकों को भी शरीर धारी मानते हो तो उनमें भी धर्म्मा धर्म मानने चाहिये।

उत्तर—न देह मात्रतःकर्मा धि कारित्वं वैशिष्ठ्य श्रुतेः १२३

अर्थ—देह धारी मात्र को शुभा शुभ कर्मों का अधिकार नहीं दिया गया है किन्तु श्रुतियों ने ब्राह्मण क्षत्री वैश्य इत्यादिकों को ही धर्मा धर्म का अधिकार प्रतिपादन कराहै। देहके भेद सेही कर्म भेद है इस बातको अगाड़ी के सूत्रसे साबित करते हैं।

त्रिधात्रयाणां व्यवस्था कर्म देहोप भोग देहो भयदेहाः १२४

अर्थ—उत्तम मध्यम अधम इन तीन तरह के शरीरों की तीन व्यवस्थाहैं और उनके वास्तेही धर्म आदि अधिकार हैं। एक कर्म देह जो सिर्फ कर्मों के करते २ ही पूरा होजाय जैसे कि अनेक ऋषि मुनियों का जन्म तपके करतेही में पूरा होजाता है। दूसरा उपभोग देह जैसे अनेक राजाओं का जन्म विषय आदिकों के भोगते २ पूरा होजाता है। तीसरा उभय देह है जिसनें कर्म भी करेहों और भोग भी भोगेहों जैसे राजर्षि भर्तृ हरि का देह। सिर्फ इन तीन प्रकार के देहोंके वास्ते धर्म्मा धर्म का विधान है और इस तरह तो पशु पक्षी आदि भी देह धारी हैं लेकिन उनको धर्म्मा धर्म का विधान नहीं है।

न किञ्चिदप्य नुशयिनः । १२५ ।

अर्थ—जो मुक्त होगया है उसके वास्ते कोई भी विधान नहीं है। और न उसको किसी विशेष नाम से कह सकते हैं।

प्रश्न—जीवको इस शास्त्र में नित्य माना है तो उस जीव के आश्रय में रहने वाली बुद्धि को भी नित्य मानना चाहिये।

उत्तर—न बुद्ध्यादि नित्य त्वमा श्रय विशेषे ऽपि वन्हि वत् ॥ १२६ ॥

अर्थ—यद्यपि बुद्ध्यादि का आश्रय जीव नित्य है तोभी बुद्धि आदि नित्य नहीं है जैसे चंदन का काठ शीत प्रकृति वाला होता है लेकिन आग के संयोग होने पर उसकी शीतला आग में नहीं होसकती।

आश्रया सिद्धेश्च ॥ १२७ ॥

अर्थ—जीव बुद्धि का आश्रय होही नहीं सकता। इनका संबंध इस तरह है जैसे स्फटिक और फूलका है इस वास्ते प्रतिबिम्ब कहना चाहिये आश्रय नहीं। इस विषय पर यह एतराज होता है कि आचार्य योगकी सिद्धियों को सच्ची मानते हैं और उनके जरिये से मुक्ति कोभी मानते हैं लेकिन योग की ऐसी भी सैकड़ों सिद्धियां हैं जो समझ में नहीं आतीं। इस विषय पर आचार्य आपही कहते हैं।

योग सिद्धयो ऽप्यौषधादि सिद्धि वन्नाप लपनीयाः ॥ १२८ ॥

अर्थ—जैसे औषधियों की सिद्धि होती है अर्थात् एक २ औषधी से अनेक रोगों की शान्ति होती है इसही तरह योग की सिद्धियों कोभी जानना चाहिये कपिला चार्य पुरुष को चैतन्य मानते हैं अतएव जो पृथिवी आदि भूतों को चैतन्य मानते हैं उनके मत को दोषयुक्त ठहरा कर अध्याय को समाप्त करते हैं।

न भूत चैतन्यं प्रत्येका दृष्टेः सांहत्ये पिच सांहत्येपिच १२९

अर्थ—मिलने पर भी भूतों में चैतन्य नहीं होसकता यदि उनमें चेतनता होती तो उनके अलाहिदा २ होने परभी दीखती लेकिन अलाहिदा होनेपर उनको जड़ देखते हैं तो चेतन कैसे मानें। सांहत्ये पिच ऐसा दो बार कहना अध्याय की समाप्ति का सूचक है

सांख्यदर्शने पंचमोध्यायः समाप्तः

अथ षष्ठोध्यायः ॥

पहिले पांच अध्यायों में महर्षि कपिल जी ने अनेक तरह के शास्त्रार्थ और युक्तियों से अपने मत का साबित होना और मतों का खंडन करा अब इस अन्त के छठे अध्याय में अपने सिद्धान्त को बहुत सीधी तरह से कहेंगे कि जिस सूरत से इस दर्शन शास्त्र का सार विना प्रयास अर्थात् थोडी मेहनत सेही समझ में आसके और जो बातें पहिले अध्यायोंमें कहआयेहैं अब उन बातों को ही सार रूपसे कहेंगे कि जिससे इस दर्शन का सम्पूर्ण सार साधारण मनुष्यों की समझ में भी आजाया करें (या आजावे) इस वास्ते उन बातों का दो दफे कहना पुनरुक्ति नहीं होसकता है।

अस्त्यात्मा नास्तित्व साधना भावात् ॥ १ ॥

अर्थ—आत्मा कोई पदार्थ जरूरहै क्योंकि न होने में कोई सबूत नहीं दीखता।

देहादि व्यतिरिक्तोसौ वैचित्र्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—आत्मा देहादिकों से भिन्न (जुदा) पदार्थ है क्योंकि उस आत्मा में विचित्रताहै

षष्ठी व्यपदेशादपि ॥ ३ ॥

अर्थ—मेरा यह शरीर है, इस षष्ठी व्यपदेश से भी आत्मा का देह से जुदा पदार्थ होना साबित है। अगर देहादिकही आत्मा होते तो मेरा यह शरीर है ऐसा कहना नहीं होसकता था। ऐसे कहनेसे ही साबित होता है कि मेरा यह कोई और चीज है यह शरीर कोई और चीज है किन्तु दो पदार्थ साबित होते हैं।

नशिलापुत्र वद्धर्मि ग्राहकमान वाधात् ॥ ४ ॥

अर्थ—शिला के पुत्र का शरीर है इस तरह अगर षष्ठी का अर्थ करा जावे तो भी ठीक नहीं होसकता क्योंकि धर्मी ग्राहक अनुमान से बाध की प्राप्ति आतीहै। (खुलासा इस का यह है कि) यदि ऐसा कहा जाय कि पत्थर का पुत्र अर्थात् जो पत्थर है वही पत्थर का पुत्र है इस में कोई भी

भेद नहीं दीखता। इसही तरह जो आत्मा है वही शरीर है ऐसा अगर षष्ठी का अर्थ करा जावे तोभी ठीक नहीं होसकता क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण देखने में नहीं आता जो शिलामें पिता पुत्रके भावको सिद्ध करताहो.

अत्यन्त दुःख निवृत्या कृत कृत्यता ॥ ५ ॥

अर्थ—दुःख के अत्यन्त निवृत्त होने से अर्थात् बिलकुल दूर होने से मोक्ष होता है।

यथादुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस तरह पुरुष को दुःखों से क्लेश होता है उस तरह सुख से उसकी अभिलाषानहीं होती। अर्थात् सुखोंसे अभिलाषाओं का पूरा होना नहीं होता क्योंकि सुख भी बहुधा करके दुःखों से मिले हुये हैं

न कुत्रापि कोऽपिसुखीति ॥७॥

अर्थ—कहीं पर भी कोई सुखी नहीं दीखता किन्त सुखी दुःखी दोनों तरह से दीखते हैं।

तदपि दुःखशबल मिति दुःख पक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः ॥८॥

अर्थ—अगर किसी सूरत से कुछ थोडा बहुत सुख प्राप्त भी हुआ तो भी सुख दुःख के निश्चय करने वाले विद्वान् लोगउस सुख को भी दुःख में गिनते हैं क्यों कि उसमें भी दुःख मिले हुये होते हैं जैसे कि विष का मिलाहुआ मिष्ट पदार्थ (मीठीचीज) इसवास्ते सांसारिकसुखको छोडकर मोक्ष सुखके वास्ते उपाय करना चाहिये ॥

सुख लाभा भावा दपुरुषार्थ त्वमितिचेन्न द्वैविध्यात् ॥ ९ ॥

अर्थ—जबकि किसी को भी सुख प्राप्त नहीं होता तो मुक्ति के वास्ते उपाय करना फजूल है क्योंकि मुक्ति में भी सुख नहीं प्राप्त होसकता ऐसा न समझना चाहिये। सुख भी दो तरहके हैं एक मोक्षहै वह सुख और तरह का है उसमें किसी सूरत के दुःख का मेल नहीं है। दूसरा सांसारिक सुख हैं वह औरही तरह का है क्योंकि उसमें दुःख मिलेहुये रहाकरते हैं ॥

निर्गुणत्व मात्मनोऽसङ्गत्वादि श्रुतेः ॥ १० ॥

अर्थ—मुक्ति अवस्था में आत्मानिर्गुण रहता है। सांसारिक दशा में लौकिक सुख आत्मा को बाधा पहुंचाते हैं मुक्ति अवस्थामें आत्मा को असंग अर्थात् प्रकृत्ति के संगसे रहित श्रुतियों द्वारा सुनागया है ॥

परधर्मत्वे ऽपितत्सिद्धिर विवेकात् ॥ ११ ॥

अर्थ—यद्यपि सांसारिक दशा में गुणों का सर्वथा पुरुष मेंही बोध होता है लेकिन उस तरह का बोध अविवेकसे पैदा होता है क्योंकि जो अविवेकी हैं वोही सांसारिक कर्मों को पुरुष कृत मानते हैं। लेकिन असलियत में वह प्रकृति और पुरुष के संयोग से होते हैं इस वास्ते संयोग हैं ॥

अनादि रविवेकोऽन्यथा दोषद्वय प्रसक्तेः ॥ १२ ॥

अर्थ—अविवेक को प्रवाहरूपसे अनादि

मानना चाहिये अगर साविमानेगे तो यहप्रश्न पैदा होगा कि उसको किसने पैदा किया यदि प्रकृति और पुरुषसे पैदा हुआ तब उन सेही पैदा हुआ और उनकाही बंध करे यह दोष होगा । दूसरा यह प्रश्न होसकता है । यदि कर्मों से इसकी पैदायश माने तो इस प्रश्न के करने का मौका मिलता है। कर्मकिससे पैदा हुये हैं। इसवास्ते इन दोनों दोषों के दूरकरने के वास्ते अविवेक को अनादि मानना चाहिये ॥

न नित्यः स्यादात्म वदन्यथा नुच्छित्तिः ॥ १३ ॥

अर्थ—अविवेक नित्य नहीं होसकता। यदि नित्यही माना जायगा तो उसका नाश न होसकैगा जैसे आत्मा का नाश नहीं होता है और उस अविवेककेनाश न होनेसे मुक्ति न होसकैगी इस वास्ते आत्मा को प्रवाहरूप से अनादि (अनित्य) मानना चाहिये ॥

प्रति नियत कारण नाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ १४ ॥

अर्थ—यह अविवेक भी प्रतिनियत कारण से नाश होजाता है इसवास्ते अनित्य है। जैसे अंधेरा प्रकाशरूप प्रतिनियत कारण से नाश होजाता है इसवास्ते वह अविवेक नित्य नहीं होसकता ॥

प्रश्न—प्रतिनियत कारण किसको कहते हैं ॥

उत्तर—जिससे उस कार्य की उत्पत्ति वा नाश जरूर होजाय जैसा अंधेरे के दृष्टांत से समझलेना चाहिये ॥

अत्रापि प्रति नियमोऽन्वय व्यतिरेकात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस अविवेक के नाश करनेमें भी प्रतिनियत (जिससे जरूर नाश हो जाय) अन्वय व्यतिरेकसे निश्चय कर लेना चाहिये वह अन्वय यही है कि विवेक के होने से इस का नाश और विवेक के न होने से अविवेक का होना प्रतीत होता है यही अन्वय व्यतिरेक कहने का मतलब है।

प्रकारान्तरासंभवाद विवेकएव बंधः ॥ १६ ॥

अर्थ—सिवाय अविवेक के अब कोई और प्रकार बन्ध में हेतु नहीं दीखता तो ऐसा माननाही ठीक है कि अविवेकही बन्ध है और विवेकही मोक्ष है। कोईवादी इनतीन सूत्रों से जोकि अगाडी कहे जायँगे मुक्ति सम्बन्ध में पूर्व पक्ष करता है।

प्रश्न—नमुक्तस्य पुनर्वंधयोगोऽप्यनावृत्ति श्रुतेः ॥ १७ ॥

मुक्त को फिर बन्ध योग नहीं होता अर्थात् जो मुक्त होचुका है वह फिर नहीं बन्ध सकता है। क्योंकि न सापुनरा वर्त्तते (वह फिर नहीं आता है) इस श्रुति से मुक्त होनेपर नहीं आता ऐसा साबित होताहै।

अपुरुषार्थ त्वमन्यथा ॥ १८ ॥

अर्थ—अगर जो मुक्त का बन्धयोग माना जाय तो अपुरुषार्थत्व सिद्ध होता है।

अविशेषा पत्तिरुभयोः ॥१९॥

अर्थ—बद्ध और मुक्त में अविशेषापत्ति अर्थात् बराबरी प्राप्त होती है क्योंकि जो मुक्त नहीं है वह अबबंधा हुआ है और जो मुक्त होजायगा उस को फिर बन्धन प्राप्त होजायगा।

उत्तर—मुक्तिरन्तरायध्वस्ते नंपरः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस तरह की मुक्ति का वादी ने पूर्वपक्ष करा उस तरहकी मुक्ति को आचार्य नहीं मानते। किंतु अन्तरायों के (विघ्नों के) ध्वंस (नाश) हो जाने के सिवाय और किसी तरह की मुक्ति आचार्य नहीं मानते।

तत्राप्यह विरोधः ॥ २१ ॥

अर्थ—जो श्रुति आदिकों का दोष प्रतिपादन करा वह योग्य नहीं क्योंकि वेदों में अनेक स्थलों पर मुक्त को भी पुनरा वृत्ति लिखी हैं कि मुक्त फिर लौट आता है। और वह श्रुति मंत्र भाग की नहीं है इस वास्ते प्रमाण के लायक नहीं होसकती। इसवास्ते मुक्त से फिर बन्धता नहीं ऐसा कहना योग्य नहीं होसकता। दूसरा यह जो दोष कहा कि पुनर्बंध होने से बद्ध मुक्त दोनों बराबर हो जायेंगे सो भी योग्य नहीं क्योंकि जो मनुष्य रोगी है उसकी बराबरी निरोगी के साथ किसी सूरत नहीं हो सकती। और जो निरोगीहै वह भी कालान्तर (कुछ दिनों के बाद) में रोगी हो सकता है। परन्तु यह बिचार करके यह भविष्यत् (अगाड़ी के समय में) रोगी होगा अतः रोगी के ही बराबर है। उसके साथ भी रोगी कासा व्यवहार नहीं करसकते इस वास्ते न तो मुक्त की पुनरा वृत्तिमानने में श्रुतिसे विरोध प्राप्त हाता है औरन युक्ति से बिरोध होताहै।

अधिकारित्रै विध्यान्ननियमः २२

अर्थ—उत्तम मध्यम अधम तीन तरह के अधिकारी होते हैं इस कारण यहकोई नियम नहीं है कि श्रवण मनन आदि संयोगों से सब की ही मुक्ति हो।

दार्ढ्यार्थ मुत्तरेषाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो अंग हैं उनको दृढ़ता के वास्ते उचित है कि श्रवण मनन आदि योग के अंगों का अनुष्ठान करैं तो कुछ दिनों के बाद मुक्ति को प्राप्त होसकैंगे।

स्थिरसुखमासनमितिननियमः२४

अर्थ—जिसमें सुखस्थिर हो वोही आसन है इस बातको पहिले कह आये हैं अतः पद्मासन मयूरासन इत्यादिक भी मोक्ष के साधन हैं, या योग के अंगों में उनकी गिनती है यह नियम नहीं है।

ध्यानंनिर्विषयंमनः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसमें मन निर्विषय होजाय उसी का नाम ध्यान है। और यह ध्यान ही समाधि का लक्षण है। अब समाधि और सुषुप्ति के भेद को दिखाते हैं।

उभय थाप्यविशेषश्चेन्नैव मुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥ २६ ॥

अर्थ समाधि और सुषुप्ति इन दोनों में अविशेष अर्थात् समानता है ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि समाधि में उपराग (विषय बासना) को रोकना पड़ता है इस वास्ते सुषुप्ति की अपेक्षा समाधि विशेष है।

निःसंगेप्युपरागोऽविवेकात् ॥२७

अर्थ—यद्यपिपुरुष निःसंग है तथापि अबिबेक के कारण उसमें विषयों की वासनाएं माननी चाहिये।

जवा स्फटिकयोरिवनो परागः किन्त्वभिमानः ॥ २८ ॥

अर्थ—जैसे जवाकाफूल औरस्फटिक मणि को धौरे रखने से उपराग होताहै। वैसा उपराग पुरुष में नहीं है किन्तु अबिवेक के कारण से पुरुष में विषय वासनाओं का अभिमान कहना चाहिये।

ध्यान धारणा भ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥ २९ ॥

अर्थ—ध्यान धारण अभ्यास वैराग्य आदिकों से विषयबासनाओं का निरोध (रुकावट) हो सकता है।

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्ये त्याचार्याः ॥ ३० ॥

अर्थ—लय (सुषुप्ति) विक्षेप (स्वप्न) इन दोनों अवस्थाओं के निवृत्त होनेसे विषय बासनाओं का निरोध होजाता है यह आचार्यों का मत है।

न स्थान नियमश्चित्त प्रसादात् ॥ ३१ ॥

अर्थ—समाधि आदि के करने के वास्ते स्थानका भी कोई नियम नहीं है जहां चित्त प्रसन्नहो वहीं समाधि होसकती है।

प्रकृते राद्योपादान तान्येषां कार्यत्व श्रुतेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उपादान कारण प्रकृति कोही माना है महदादिकों को प्रकृतिका कार्य माना है।

नित्यत्वे ऽपि नात्मनो योगत्वात् ॥ ३३ ॥

अर्थ—आत्मा नित्य भी है तो भी उसको उपादान न कारण कहना सिर्फ भूल है। क्योंकि जो बातें उपादान कारण में होती हैं वह बातें आत्मा में नहीं दीखतीं (खुलासा भाव यह है) अगर आत्मा ही सब का उपादान कारण होता तो पृथिवी आदि सब चैतन्य होने वाजिब थे। लेकिन यह बात देखने में नहीं आती।

श्रुति विरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्म लाभः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रुतियों के विरोध से आत्मा के संबंध में कुतर्क (खोटे सवाल) करते हैं उनको किसी सूरत आत्मा ज्ञान नहीं होता है ॥

पारम्पर्ये ऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—परम्परासंबंधसे भी प्रकृति कोही सबकाकारण मानना चाहिये जैसे घटादिकों के कारण अणु है और अणुओं का कारण परमाणु है इसही तरह परम्परासंबंध सेभी सबका कारण प्रकृतिही है ॥

सर्वत्र कार्य दर्शनाद्विभुत्वम् ३६

अर्थ—प्रकृति के कार्य सब जगह दीखते हैं। इस कारण प्रकृति नित्य है ॥

गति योगेप्याद्य कारणताहानिरणुवत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—यद्यपि शरीर में गमनादि क्रियाओं का योग है तो भी उसका आद्यकारण (पहला सबब) जरूर मानना होगा जैसे अणु यद्यपि सूक्ष्म हैं तथापि उनका कारण जरूरही माना जाता है ॥

प्रसिद्धा धिक्यं प्रधानस्यननियमः ॥ ३८ ॥

अर्थ—प्रसिद्धता तो प्रकृतिही की दीखती है और वैशेषिकादिकों के मानेहुये द्रव्यों का ठीक नियम नहीं है क्योंकि कोई तो नौ द्रव्य मानते हैं कोई सोलह द्रव्य मानते हैं इस कारण उनका कोई नियम ठीक नहीं है और प्रकृति के सब कार्य दीख रहे हैं इस लिये उसकोही कारण मानना चाहिये ॥

सत्वादीनामतद्धर्मत्वंतद्रूपात् ३९

अर्थ—सत्व रज तम यह प्रकृति के धर्म नहीं हैं किन्तु प्रकृति के रूप हैं सत्वादी रूप ही प्रकृति है।

अनुप भोगे ऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुम वहनवत् ४०

अर्थ—यद्यपि प्रकृति अपनी सृष्टि का आपभोग नहीं करती तथापि उसकी सृष्टि पुरुषके वास्ते है जैसे ऊंट अपने स्वामी के वास्ते केशरको लेजाता है ऐसेही प्रकृति भी सृष्टि करती है ॥

कर्म वैचित्र्यात् सृष्टि वैचित्र्यम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—हरएक आदमी के कर्मोंकी वासनायें तरह २ की होती है इसही कारण से प्रकृति की सृष्टि भी तरह २ की होती है एकसी नहीं होती है ॥

साम्य वैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ४२

अर्थ—समता और विषमता के कारण उत्पत्ति और प्रलय होते हैं। जब प्रकृत्ति की समता होती है तब उत्पत्ति और जब विषमता होती है तब प्रलय होता है यही बात संसार में दीखरही है कि जिन दो औषधि (दवाई) यों को बराबर भाग मिलाकर अगर खाया जाता है तो नफा होता है। और कमती बढती मिलाकर खाने से नुकसान होता है।

विमुक्तस्यबोधान्न सृष्टिः प्रधानास्य लोकवत् ॥ ४३ ॥

अर्थ—जब प्रकृतिको इस बात का ज्ञान होजाता हैं कि यह पुरुष मुक्त होगया फिर उसके वास्ते सृष्टिको नहीं करतीहै। यहबात लोक के समान समझनी चाहिये जैसे कि कोई आदमी किसी को बंधन मेंसे छुटानेका उपाय करता है जब वह उसको उस बंधन से छुडादेता है तो उस उपाय से निश्चिन्त हो बैठता है क्योंकि जिसके वास्ते उपाय कराथा वह कार्य पूरा होगया ॥

नान्योप सर्पणे ऽपि मुक्तोप भोगो निमित्ता भावात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—यद्यपि प्रकृति अविवेकियों को बद्ध करती है लेकिन मुक्त को बद्ध नहीं करसकती क्योंकि जिस निमित्त से प्रकृति अविवेकियों को बद्ध करती थी वह अविवेक मुक्त जीवों में नहीं रहता है।

पुरुष बहुत्वं व्यवस्थातः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जीव बहुत हैं क्योंकि हरएक शरीर में उनकी अलाहिदा२व्यवस्था दीखतीहै।

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—यदि ऐसा कहा जाय कि सूर्य एक है लेकिन उसकी छाया के अनेकों स्थानों में पडने से अनेको सूर्य दीखने लगते हैं इसही तरह ईश्वर एक है किन्तु शरीर रूपी उपाधियोंकेहोनेसे अनेकताहै तोभी ऐसाकहना ठीक नहीं है क्योंकि जो एक ब्रह्म के सिवाय और दूसरे को मानते ही नहीं हैं अगर वह लोग ब्रह्म और उपाधि दो मानेंगे तो अद्वैत वाद न रहेगा किन्तु द्वैतवाद होजावेगा।

द्वाभ्यामपि प्रमाण विरोधः ४७

अर्थ—अगर दोनों ही माने तो प्रमाण से विरोध होता है क्योंकि यदि उपाधि को सत्य माने तो जिन प्रमाणों से अद्वैत की सिद्ध करते हैं उनसे विरोध होगा अगर उपाधि को मिथ्या माने तो जिन प्रमाणों से उपाधि को सिद्धकरते हैं उनसे विरोध होगा। अब इस विषय पर आचार्य अपना मत कहते हैं।

द्वाभ्या मप्य विरोधान्नपूर्वमुत्तरंच साधका भावात् ॥ ४८ ॥

अर्थ—द्वैत•अद्वैत इन दोनों से हमारा कोई विरोध नहीं है ? क्योंकि ईश्वर अद्वैत तो इस वास्ते है कि उसके बराबर और

कोई नहीं है। द्वैत इस वास्ते है कि जीव और प्रकृति के गुण ईश्वर की अपेक्षा और तरह के मालूम होते हैं। इस वास्ते ऐसा न कहना चाहिये कि पहला पक्ष सही है या दूसरा। क्योंकि एक पक्ष की पुष्टि करने वाला कोई प्रमाण नहीं दीखता किन्तु जीव और ईश्वर की अलहदगी के सिद्ध करने वाले प्रमाण दीखते हैं।

प्रकाश तस्तत्सिद्धौ कर्म कर्तृ विरोधः ॥ ४९ ॥

अर्थ—ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है इस वास्ते जो चाहे सो करसकता है अर्थात् चाहे तो घटादि रूप हो जाय इस प्रमाण से यदि ब्रह्म को अद्वैत कहकर अद्वैत वाद की सिद्धि करी जाय तो कर्ता और कर्म का विरोध होगा क्योंकि ऐसा कहीं नहीं देखने में आता कि कर्ता कर्म होगया हो जैसे घट का कर्ता कुमार है और उस कुमार का कर्म घट (घडा) है तो दोनों को अलहदा पदार्थ मानना होगा ऐसा नहीं कहसकते कि कुमार ही घट है।

जड़व्यावृत्तो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ ५० ॥

अर्थ—जीव जड पदार्थों में मिलकर उनको भी प्रकाश करदेता है इस वास्ते वह प्रकाश स्वरूप है क्योंकि यदि जीव में प्रकाश करने की शक्ति न होती तो शरीर में गमनादिक क्रियायें न होसकती थी।

नश्रुति विरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिन श्रुतियों से अद्वैत की सिद्धि होती है उनसे और जो द्वैत को सिद्ध करती हैं उनसे कुछभी विरोध न होगा क्योंकि जोईश्वर को छोडकर जीव या शरीर को ईश्वर मानते हैं उनको समझाने के वास्ते वह श्रुतियां हैं अर्थात् ईश्वर को उन श्रुतियों ने अद्वैत अद्वितीय एक आदि विशेषणों से इस सबब कहा है कि उसके समान दूसरा और कोई नहीं है अतः द्वैत के मानने से श्रुतियों से विरोध नहीं होता।

जगत्सत्यत्वम दुष्ट कारण जन्यत्वा द्वाधकाभावात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जगत् सत्य है क्योंकि इसका कारण नित्य है और किसी समय में भी इसका बाध (रोक) नहीं दीखता है। इस सूत्रका आशय पहिले अध्याय में कह आये हैं इस वास्ते विस्तार नहीं करा है।

प्रकारान्तरा सम्भवात् सदुत्पत्तिः ॥ ५३ ॥

अर्थ—जबकि प्रकृति के सिवाय और कोई कारण इसका दीखता नहीं तो ऐसा कहना चाहिये कि इसकी पैदाइश असत् पदार्थ से नहीं है किंतु सत् पदार्थ सेही है।

अहंकारः कर्ता नपुरुषः ॥ ५४ ॥

अर्थ—संकल्प विकल्प आदिकों का कर्ता अहंकार है किंतु जीव नहीं है क्योंकि जो विचार बुद्धि में पैदा होता है उसकेबाद मनुष्य कार्यों के करने में लगता है। और उस बुद्धि को पुरुष का प्रतिबिम्ब ही प्रकाश करता है।

चिदवसाना बुद्धिस्त तूकर्मार्जित तूवात् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिसका अन्त जीव में हो उसको भोग कहते हैं वहभोग जीव के कर्मों से होते हैं इस कारण भोगों का अन्त जीव में मानना चाहिये।

चन्द्रादि लोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्त सद् भावात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—चन्द्रलोक के जीवों में भी आवृत्ति दीखती है क्योंकि जिस निमित्त से मुक्ति और बन्ध होते हैं वह वहां के जीवों में भी बराबरही दीखते हैं। खुलासा। चन्द्रादि लोकों के रहने वाले जीव भी एकदफे मुक्त होकर फिर कभी बन्धन में नहीं पडते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु वहां के भी मुक्त जीव लौट आते हैं क्योंकि वह चन्द्रादिक लोकभी भूलोकों के समानही हैं।

लोकस्य नो पदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—जैसे इसलोक के पुरुषों की श्रवण मात्र से मुक्ति नहीं होती है इसही तरह चन्द्र लोक के मनुष्यों की भी श्रवण मात्र से मुक्ति नहीं होती है।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्ति श्रुतिः ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो जन्मान्तरों से मुक्ति के वास्ते यत्न करते चले आते हैं वह लोक सिर्फ श्रवण मात्रही से मुक्ति को प्राप्त होसकतेहैं इस वास्ते श्रुत्वा मुच्यते सुनने से मुक्तिको प्राप्त हो जाता है यह श्रुतिभी सार्थक हो जायगी।

गति श्रुतेश्चव्यापकत्वे ऽप्युपाधि योगाद्भोगदेशकाल लाभो व्योमवत् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आत्मा में जो गति सुनी जाती है उसको इस तरह से समझना चाहिये कि यद्यपि आत्मा शरीर में व्यापक है तथापि उस शरीररूपी उपाधि के योग से अनेक तरह के भोग देश और समयों का योग इसमें माना जाता है। अर्थात् भोगों की प्राप्ति देशान्तरगमन और प्रातःसंध्या आदि का अतिक्रम आत्माही में मालूम होताहै लेकिन आत्मा असलियत में इनसे अलाहिदा है जैसे घट का आकाश घट को उठाकर दूसरी जगह लेजाने से वह आकाश भी दूसरी जगह चलाजाता है इस बात को पहले कह चुके हैं कि बिना जीव के सिर्फ वायुही से शरीरका कार्य नहीं चलता उसपर आचार्य अपना सिद्धान्त कहते हैं।

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ॥ ६० ॥

अर्थ—यदि आत्मा इस शरीरका अधिष्ठाता न हो तो शरीर में दुर्गंधि आने लगे इस सबब प्राणको शरीर का अधिष्ठाता नहीं कह सकते हैं।

अदृष्टद्वारा चेद सम्बद्धस्यतदसम्भवाज्जलादि वदङ्कुरे। ६१।

अर्थ—यदि अदृष्ट (प्रारब्ध) से प्राण को शरीर का अधिष्ठाता कहें तो भी योग्य नहीं क्योंकि प्राणका जब प्रारब्ध के साथ

कोई कोई सम्बन्धही नहीं है तो उसको अधिष्ठाता कैसे कह सकते हैं। जैसे अंकुरके पैदा होने में जलभी हेतु है लेकिन बगैर बीज के जलसे अंकुर पैदा नहीं होसकता इसी तरह यद्यपि शरीर की अनेक क्रियायें प्राणसे होती हैं तोभी वह प्राण बगैर आत्मा के कोई क्रिया नहीं करसकता।

निर्गुणत्वात् तदसम्भवा दहङ्कारधर्माह्यते ॥ ६२ ॥

अर्थ—ईश्वर निर्गुण है इस कारण उस को बुद्धि आदि का होना असम्भव (झूंठ) है इस वास्ते यह सब अहंकार के धर्म बुद्धि आदि जीव में ही मानने चाहिये।

विशिष्टस्यजीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—जो ईश्वर के गुणों से अलाहिदा, शरीरादि युक्त है उस को जीव संज्ञा से बोलते हैं इस बात को अन्वय व्यतिरेक से जानना चाहिये। अर्थात् जीव के होने से शरीर में बुद्धि का प्रकाश और न होने से बुद्धि आदिका अप्रकाश दीखता है।

आहंकारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वरा धीना प्रमाणा भावात् ॥ ६४ ॥

अर्थ—अहंकारही बुद्धि आदि कार्यों का करने वाला है किन्तु बुद्धि को ईश्वर नहीं बनाता क्योंकि बुद्धि आदि अनित्य हैं ईश्वर नित्य है इस वास्ते उसके कार्य भी नित्य होने चाहिये।

अदृष्टो द्भूतिवत् समानत्वम्। ६५।

अर्थ—जिस वस्तु के कर्ता को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं उस कर्त्ता का हम अनुमान करलेते हैं। दृष्टांत। जैसे कि किसी घडे को देखा और उसके कर्त्ता कुम्हारको नहीं देखा तब अनुमान से साबित करते हैं कि इसका बनानेवाला जरूर है चाहें वह दीखे मत। इसहीतरह पृथिवी आदि अंकुरों का कर्त्ता भी कोई न कोई जरूर है॥

महतोऽन्यत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—इसहीतरह इन्द्रियों की तन्मात्राओं का कर्त्ता भी महत्तत्व के सिवाय किसी को मानना चाहिये। वह कर्त्ता अहंकारही है

कर्म निमित्तः प्रकृतेःस्वस्वामि भावोऽप्यनादि वींजाङ्कुर वत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुषका स्वस्वामिभाव सम्बन्धभी पुरुष के कर्मों की वासना से अनादिही मानना चाहिये। जैसे बीज और अंकुर का संबंध अनादि माना गयाहै॥

अविवेक निमित्तो वापंचशिखः ॥ ६८ ॥

अर्थ—प्रकृत्ति और पुरुष का स्वस्वामि भाव सम्बन्ध कर्म की वासनाओं से नहीं है किन्तु अविवेक से है पंचशिख आचार्य ऐसा कहते हैं॥

लिंग शरीर निमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥ ६९ ॥

अर्थ—लिंग शरीर के निमित्त प्रकृत्ति

और पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है सनन्दनाचार्य ऐसा मानते हैं ॥

यद्वातद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥ ७० ॥

अर्थ—प्रकृति और पुरुष का चाहे कोई क्यों न संबंध हो किन्तु किसी न किसी सूरतसे उस संबंधकानाश होजाय उसकोही मोक्ष कहते हैं सांख्याचार्य का यही मत है तदुच्छित्ति ऐसा दो दफे का कहना वीप सामें है। इस अध्याय में जो २ विषय कहे गये हैं इन विषयों को पाहिले पांच अध्यायों में खूब फैलाकर कहचुके हैं इस वास्ते इन सूत्रों की व्याख्या बहुत फैलाकर नहीं करी है ॥

इति सांख्य दर्शने षष्ठोध्यायः
समाप्तः
ग्रन्थोऽपिसमाप्तोजातः